झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासी जीवन और समाज

(JHARKHAND KE AADIWASI SAHITYAKARON KE HINDI KATHA SAHITYA ME AADIWASI JEEWAN AUR SAMAJ)

TRIBAL LIFE AND SOCIETY IN HINDI FICTION OF TRIBAL AUTHORS OF JHARKHAND

पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध–प्रबंध

शोध निर्देशक
प्रो. राम चंद्र

शोधार्थी
उषा किड़ो

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2017

जवाहरलालनेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERISTY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Date: 20.07.2017

DECLARATION

I hereby declare that the work done in this Ph.DThesis entitled **"JHARKHAND KE AADIWASI SAHITYAKARON KE HINDI KATHA SAHITYA ME AADIWASI JEEWAN AUR SAMAJ (TRIBAL LIFE AND SOCIETY IN HINDI FICTION OF TRIBAL AUTHORS OF JHARKHAND)"**submitted by me is an original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Usha Kiro
USHA KIRO
(Research Scholar)

PROF. RAM CHANDRA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU TEL.: (91-001)26741557,26742676 Extn.4217,(D)26704217 Fax:(91-011)26717603,26717586

विषय सूची

अनुक्रम		पृष्ठ संख्या
भूमिका :–		i-v
अध्याय एक :–	झारखण्ड की आदिवासी जातियाँ एक सामान्य परिचय	1–29
अध्याय दो :–	झारखण्ड के आदिवासी कथाकारों का सामान्य परिचय	30–55
अध्याय तीन :–	झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताएँ	56–85
अध्याय चार :–	झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासियों का सांस्कृतिक संकट	86–110
अध्याय पाँच :–	झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आर्थिक, राजनीतिक समस्याएँ : संघर्ष और प्रतिरोध	111–138
अध्याय छः :–	झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में प्रेम, विवाह और स्त्री पुरुष सम्बन्ध	139–163
अध्याय सात :–	झारखण्ड के आदिवासियों से सम्बंधित आदिवासी और गैर आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य की एक संक्षिप्त तुलना	164–193
उपसंहार :–		194–203
सन्दर्भ सूची :–		204–211

अध्याय एक

झारखण्ड की आदिवासी जातियाँ एक सामान्य परिचय :–

ऊँचा नीचा, पहाड़–पर्वत, नदी–नाला, वनाच्छादित क्षेत्र, झारखण्ड प्रदेश को, खनिजों से भरपूर धन सम्पदा विरासत के रूप में हासिल हुई है। भौगोलिक रूप से छोटानागपुर पठार के नाम से विख्यात झारखण्ड राज्य की अपनी भौगोलिक स्थिति, आर्थिक व्यवस्था, सांस्कृतिक परंपरा, शोषण से मुक्त सामाजिक ढांचा, सरल प्रवृत्ति तथा हर तरह के जुल्मों के खिलाफ बगावत करने की ऐतिहासिक परंपरा जीवन के हर क्षेत्र में मौजूद है। यहाँ भिन्न–भिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, जातियों, जनजातियों, एवं धर्मों का संगम है, जिनकी अपनी कला एवं परम्पराएं हैं।

बिहार के दक्षिणी हिस्से में छोटानागपुर संथाल परगना का इलाका और इससे सटे हुए उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश के कुछ इलाके प्राचीन काल से ही वृहत झारखण्ड प्रदेश के नाम से जाने जाते हैं। इनमें बिहार राज्य के सात जिले हैं – सिंहभूम, रांची, पलामू, हजारीबाग, धनबाद, गिरिडीह और संथाल परगना, पश्चिम बंगाल के तीन जिले– पुरुलिया, बाँकुड़ा और मिदनापुर। उड़ीसा के चार जिले– सुंदरगढ़, मयूरभंज, संबलपुर और क्योंझर तथा मध्यप्रदेश के दो जिले सरगुजा और रायगढ़। ये इलाके न सिर्फ भौगोलिक रूप से झारखण्ड प्रदेश के अंग हैं बल्कि जातीय समुदायों की दृष्टि से भी अभिन्न हैं।

झाड़ जंगलों और पहाड़ों से भरे हुए इस प्रदेश का झारखण्ड नाम उचित ही है। एशिया के सबसे घने जंगलों में एक सारंडा वन क्षेत्र इसी झारखण्ड के सिंहभूम जिले में है। झारखण्ड क्षेत्र में पहाड़ पर्वत घनघोर जंगल में आदिम जातियाँ उस समय आईं जब यहाँ सिर्फ बाघ, भालू, बन्दर और हिंसक जानवर रहते थे। उन्होंने हिंसक जानवरों से लड़कर झाड़ जंगल को साफ किया, खेत बनाए, गाँव बसाए तथा स्थायी रूप से रहने लगे। उन्होंने इस क्षेत्र को जनजीवन से आबाद कर झारखण्ड नाम से मशहूर किया। डॉ॰ वीर भारत तलवार लिखते हैं – "**इस क्षेत्र को**

झारखण्ड नाम इतिहास ने दिया है राजनीति इसे बदल नहीं सकती। इस नाम में आदिवासियों को अपनी पहचान दिखाई पड़ती है, इसलिए इस नाम के लिए वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने को तैयार रहते हैं। यह नाम आदिवासियों के लिए उनके अस्तित्व के संघर्ष का प्रतीक बन गया है।"[1] इतिहास में इस क्षेत्र को झारखण्ड के नाम से ही जाना जाता था। 16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मुगलकालीन ग्रन्थ **अकबरनामा** में इस क्षेत्र का उल्लेख झारखण्ड के नाम से हुआ है। इतिहास साक्षी है जब प्रसिद्ध वैष्णव संत महाप्रभु चैतन्य उड़ीसा के नीलांचल से मथुरा की ओर जा रहे थे तब वे झारखण्ड प्रदेश से होकर गुजरे थे और उन्होंने अपने **चैतन्य चरितामृत** में इस प्रदेश का उल्लेख इस प्रकार किया है –

"मथुरा यावार छले आसि झारिखंड

भिल्ल प्राय लोक ताहे परम पाषंड

नाम प्रेम दिया कैल संवार निस्तार

चौतन्येर गूढ़लीला बुझे साध्यकार ?

बन देखि भ्रम हय एइ वृन्दावन

शैल देखि मने हय एइ गोवर्धन।

तथा

झारि – खंडे स्थावर जंगम आछे यत

कृष्ण नाम दिया कैल प्रमेते उन्मत्त।

येइ ग्राम दिया मान यांहा करेन स्थिति

ये सब ग्रामेर लोकेर हय प्रेम भक्ति।"[2]

जंगल और झाड़ की अधिकता ने ही शायद इस नाम को जन्म दिया था।

'कबीरदास का एक पद है–

कब से छोड़ी मथुरा नगरी

कब से छोड़ी कासी

झारखण्ड में आय बिराजे

वृन्दावन के वासी।'

मल्लिक मुहम्मद जायसी ने भी पद्मावत में झारखण्ड का नामोल्लेख किया है –

"दक्खिन दहिने रहै तिलंगा

उतर मांझ होय करह कटंगा

मांझ रतनपुर सोह दुआरा

झारखण्ड में बायं पहारा।"[3]

मनु संहिता हिंदुओं का प्राचीन ग्रंथ है। उसमें एक श्लोक है। उसमें झारखंड की पौराणिक एवं सांस्कृतिक पहचान की झलक मिलती है। श्लोक इस प्रकार है:–

'अयस्कः पात्रे पयः पानम

शाल पत्रे च भोजनम

शयनम खर्जूरी पात्रे

झारखंडे विधिवते।'

'झारखंड में रहनेवाले धातु के बर्तन में पानी पीते हैं। शाल के पत्तों पर भोजन करते हैं। खजूर की चटाई पर सोते हैं। यही झारखण्ड की विधि है।'

झारखण्ड का वह भाग जो आज रांची जिला के नाम से जाना जाता है, मध्यकाल में कोकराह के नाम से विख्यात था। यही क्षेत्र धीरे–धीरे चुटिया नागपुर, चूता, चुटानागपुर या सामान्यतः छोटानागपुर के नाम से जाना जाने लगा। पूरे झारखण्ड प्रदेश के केंद्रीय भूभाग रांची जिले की ऊंचाई समुद्र तल से 2500 फुट से लेकर 3600 फुट तक है। धान, मडुआ, उड़द, मकई और सुरगुजा खेतों से आबाद इस प्रदेश में दामोदर, स्वर्णरेखा, कोयल, कारो, शंख, खरकाई और ब्राह्मणी जैसी बड़ी नदियाँ हैं। जितने गाँव हैं करीब उतने ही नाले भी हैं और पहाड़ों की ऊँची चट्टानों से झाग बनाकर नीचे गिरते उज्ज्वल जल वाले हुंडरू, दशम, जोन्हा, हिरणी, पुटकी, सीता जैसे सुन्दर जलप्रपात भी हैं।

2001 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल आदिवासियों की जनसँख्या 84326240 है जो पुरे देश की जनसख्या का 8.2 फीसदी है। झारखण्ड में उनकी कुल आबादी 7087068 (2001 की जनगणना के अनुसार) है। करीब 92 प्रतिशत (6500014)जनजातीय आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और सिर्फ 8 प्रतिशत (587054) आबादी शहरों में रहती है।

2011 की जनगणना के अनुसार पूरे भारत तथा झारखण्ड में आदिवासियों की जनसंख्या, ग्रामीण तथा शहरों में रहने वाले स्त्रियों तथा पुरुषों का एक तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। झारखण्ड की कुल जनसंख्या में आदिवासियों का प्रतिशत, स्त्रियों तथा पुरुषों का प्रतिशत कितना है? यह इस तालिका के माध्यम से स्पष्ट है –

		Total	Male	Female
India	Total	104281034	52409823	51871211
	Rural	93819162	47126341	46692821
	Urban	10461872	5283482	5178390
Jharkhand	Total	8645042	4315407	4329635
	Rural	7868150	3928323	3939827
	Urban	776892	387084	389808

Total ST Population			
	India	Jharkhand	% of total
Total	104281034	8645042	8.29
Male	52409823	4315407	8.23
Female	51871211	4329635	8.35

Rural ST Population			
	India	Jharkhand	% of total
Total	93819162	7868150	8.39
Male	47126341	3928323	8.34
Female	46692821	3939827	8.44

Urban ST Population			
	India	Jharkhand	% of total
Total	10461872	776892	7.43
Male	5283482	387084	7.33
Female	5178390	389808	7.53

ST population in Jharkhand				
Total	Rural	Urban	% of R/T	% of U/T
8645042	7868150	776892	91.01	8.99
4315407	3928323	387084	91.03	8.97
4329635	3939827	389808	91.00	9.00

%age of ST pop. To Total Pop. In Jharkhand			
	Total Poulation	St Population	st/total*100
Total	32966238	8645042	26.2
Male	16930315	4315407	25.5
Female	16057819	4329635	27.0

झारखण्ड प्रदेश आदिवासियों का मुख्य निवास स्थल रहा है। झारखण्ड की जनजातियों में से संथाल, मुंडा, उराँव, भूइयां, हो, खड़िया तथा भूमिज आदि भारत की बड़ी आदिवासी जातियाँ हैं तथा बेदिया, चेरो, बाथूडी, सावरा, महली, खेरवार, बिंझिया, कंवर तथा चीक बड़ाईक आदि छोटी आदिवासी जातियाँ हैं। ये सभी जातियां खेतिहर हैं। बड़ी आदिवासी जातियाँ सांस्कृतिक और आर्थिक ट्टष्टि से अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं और शिक्षा तथा सरकारी नौकरी के क्षेत्र में इन्हीं जातियों के लोग आते हैं। छोटी आदिवासी जातियाँ सांस्कृतिक और आर्थिक विकास की ट्टष्टि से अधिक कमजोर हैं। शिक्षा और सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में इन जातियों के लोग नहीं के बराबर हैं।

भारत में वर्तमान में चार अलग–अलग जातीय परिवार हैं – '**1. नेग्रीटो 2. आस्ट्रोएशियाटिक और इंडो यूरोपीय भाषा समूहों के आस्ट्रोलाइड्स 3. द्रविड 4. मोंगोलोइड । इन चारों में से प्रथम अर्थात नेग्रीटो लगभग 4000 ईसा पूर्व भारत में आये।**'[4]

झारखण्ड के आदिवासी दो वर्गों में विभाजित हैं– **मुंडा ग्रुप** और **द्रविड़ ग्रुप**। प्रायः सभी जनजातियों का निवास स्थान ग्रामीण क्षेत्रों में जंगलों और पहाड़ों के बीच है। दुरूह दुर्गम एवं सुविधाविहीन क्षेत्रों में होने के कारण बाहरी संपर्क से वंचित हैं। समय की गति और वैज्ञानिक प्रगति से अछूते हैं। पृथकता

का जीवन बिताने वाले सरल सीधे लोगों का अपना अलग संसार है, जिसमें अपनी भाषा, रीति–रिवाज, वेश–भूषा तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था कायम हुआ करता था। इससे एक विशेष प्रकार की संस्कृति और जीवन–यापन के ढंग तथा प्रवृत्ति मनोवृत्ति का विकास हुआ है। संस्कृति वह जीवन शैली है जिसे लोग अपने पूर्वजों से ग्रहण करते आये हैं संस्कृति ही जनसमुदाय को जीवन जीने की एक उच्च भावभूमि प्रदान करती है। किन्तु समय की गतिशीलता का प्रभाव ग्रामीण इलाकों में भी पड़ने लगा है। पिछले कुछ वर्षों से यह दिखने लगा है कि मीडिया के विभिन्न प्रकार गाँव–गाँव तक पहुँच गया है। जैसे टेलीविजन, रेडिया, प्रिंट मीडिया, मोबाइल, इलेक्ट्रोनिक मीडिया आदि। यह अच्छी बात भी है जिससे लोगों को अपने दैनंदिन कार्यों के साथ–साथ देश–विदेश से जुड़ने का मौका भी मिलता है। किन्तु दूसरी ओर मीडिया का अच्छाई और बुराई दोनों पक्ष देखने को मिलता है। इसका सबसे ज्यादा असर युवा वर्गों में देखने को मिलता है। आजकल अधिकांश युवक–युवतियां चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, कोई पढ़ने के उद्देश्य से तो कोई नौकरी, बिजेनस या कोई घरेलू काम–काज के उद्देश्य से शहरों की ओर खींचे चले जा रहे हैं। शहरों से नाता जोड़ते ही इनपर बाजारवाद का जबरदस्त प्रभाव पड़ता है, इसका सीधा असर उनकी संस्कृति पर पड़ता है जिससे उनके सामने अस्तित्व और अस्मिता का संकट खड़ा नजर आता है क्योंकि आदिवासियों की संस्कृति ही उनकी पहचान है ।

झारखण्ड की 32 जनजातियों में आस्ट्रिक भाषा परिवार की जातियाँ 25 हैं जो निम्नलिखित हैं – **1. संथाल 2. मुंडा 3. हो 4. खड़िया 5. खेरवार 6. भूमिज 7. महली 8. कुरमाली 9. कोड़ा 10. कोरवा 11. असुर 12. बिरहोड़ 13. बिरजिया 14. सबर 15. बथुडी 16. गोंड 17. चेरो 18. बिंझिया 19. खोंड 20. बैगा 21. चिक बडाईक 22. बेदिया 23. गोंडाईत 24. कोल 25. परहिया । भाषा की ट्रष्टि से ये सभी मुंडा ग्रुप के अन्दर आती हैं । कहा जाता है कि आस्ट्रिक भाषा परिवार की जातियों का भारत आगमन आठ हजार ईसा पूर्व हुआ है।**[5]

32 जनजातियों में द्रविड़ भाषा परिवार की जनजातियाँ 7 हैं। ये जातियाँ निम्नलिखित हैं – **1.उराँव 2. माल पहाड़िया 3. सौरिया पहाड़िया 4.**

किसान 5. लोहरा 6. बनजारा 7. कवार। द्रविड़ भाषा परिवार की जनजातियों का भारत आगमन 3500 ईसा पूर्व माना जाता है।[6]

मुंडा भाषा बोलने वाले और द्रविड़ भाषा बोलने वालों को उनके शरीर की बनावट तथा रूप रंग के कारण कुछ एक मानवशास्त्रियों ने एक ही वंश का माना है। उदाहरणार्थ – **'हर्बर्ट रिसले का कहना है कि कोलेरियन (मुंडा बोलने वालों) और द्रविड़ लोगों में अंतर सिर्फ भाषा मूलक है, शारीरिक दृष्टि से उनमें कोई अंतर नहीं। परन्तु एफ. हान का मानना है कि मुंडा और द्रविड़ भाषा के रूपों में भी निकट का संबंध है। दूसरी ओर कुछ मानवशास्त्रियों जैसे ए. सी. हैडन एस. एस. सरकार और पी. एस. बसु का कहना है कि दोनों के बीच जातीय भिन्नताएँ मौजूद हैं।'**[7]

पूरी दुनिया में अफ्रीका के बाद सबसे अधिक आदिवासी भारत में रहते हैं। डॉ. वीर भारत तलवार के अनुसार– **'भारत की कुल 427 जातियों में से 83 आदिवासी जातियाँ झारखण्ड प्रदेश में रहती हैं।'**[8] लेकिन कुछ दूसरे विद्वानों ने इससे अलग मत दिया है, जैसे अपने संक्षिप्त मोनोग्राफिक सिरीज असुर में राजेश्वरी प्रसाद सिंह ने भारत सरकार गृह मंत्रालय की एक अधिसूचना के आधार पर तत्कालीन **बिहार राज्य (वर्तमान झारखण्ड) में 30 अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख किया है।**[9] झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया (खण्ड–4) के संपादक रणेंद्र ने भी 30 आदिवासी समूहों का जिक्र किया है। डॉ. बिमला चरण शर्मा तथा कीर्ति विक्रम ने झारखण्ड की जनजातियाँ नामक पुस्तक में **32 जनजातियों का उल्लेख किया क्योंकि कंवर और कोल को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में 8 जून 2003 को शामिल किया गया।**[10] ऐसे में प्रामाणिक रूप से यह बता पाना संभव नहीं कि झारखण्ड में कुल कितनी आदिवासी जातियाँ हैं। किसी भी हालत में यह संख्या 30 से कम नहीं हो सकती।

झारखण्ड की जनजातियों में कुछ प्रमुख एवं कुछ गौण आदिवासियों का सामान्य परिचयः–

कहा जाता है कि झारखण्ड के अधिकांश जनजातियों का अपना कुशल कार्य क्षेत्र हुआ करता था जिनके कार्यों को लेकर ही उन्हें उस जाति के रूप में जाना जाने लगा था ।

संथालः– झारखण्ड की जनजातियों में सबसे अधिक संख्या संथालों की है। इन्हीं के नाम पर संथाल परगना का नामकरण हुआ है। संथाल परगना झारखण्ड का उत्तरी भूभाग है जो इन दिनों संथाल परगना प्रमंडल के रूप में जाना जाता है। इसके अंतर्गत दुमका, देवघर, साहेबगंज, गोड्डा पाकुड़ और जामताड़ा नामक छह जिले हैं। यह क्षेत्र अनेक छोटी बड़ी पहाड़ियों से घिरा है। अतीत में यह जंगलतरी कहलाता था जिसके मध्य को बाद में ब्रिटिश सरकार ने **दामिन–ई–कोह** के नाम से विभाजित करके इस क्षेत्र के सबसे पुराने निवासी पहाड़िया लोगों के लिए आरक्षित कर दिया था। आज इनकी आधी से अधिक आबादी संथाल परगना के विभिन्न जिलों में निवास करती है। संथाल परगना के बाद सिंहभूम, हजारीबाग और धनबाद का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त बिहार के पूर्णिया, भागलपुर, मुंगेर और सहरसा में संथाल अच्छी संख्या में बसे हुए हैं। रांची और पलामू में इनकी संख्या बहुत कम है। **प्रजातीय दृष्टि से संथाल को प्रोटो आस्ट्रेलायड श्रेणी में रखा गया है।**[11] भाषा के आधार पर आस्ट्रिक वर्ग के मुंडा ग्रुप के अंतर्गत रखा गया है जिनकी बोली संथाली है तथा लिपि ओलचिकी है।

संथालों में एक प्रचलित लोककथा एवं उनके धार्मिक विश्वास के अनुसार संथाल जनजाति की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है। प्रारंभ में विश्व में सिर्फ जल ही जल था। बाद में उसमें पृथ्वी अवतरित हुई। तब भगवान ने पक्षियों के दो जोड़े बनाये और उन्हें करम वृक्ष में रहने का आदेश दिया। बाद में उन पक्षियों के जोड़े ने दो अंडे दिए उन अण्डों में से एक स्त्री और एक पुरुष की उत्पत्ति हुई। वे झोपड़ी बनाकर रहने लगे और खेती करने लगे। उन लोगों से सात लड़के और आठ लड़कियाँ हुईं। इन्हीं से संथालों का विकास हुआ। एक दूसरी कथा के अनुसार पिलचू हड़ाम और

पिलचू बूढ़ी का जन्म हंस और हंसिनी के दो अण्डों से हुआ। इनके सात बेटे और सात बेटियाँ कुल चौदह संतानें हुईं। सातों बेटे पिता के साथ तथा सातों बेटियाँ अपनी माँ के साथ अलग–अलग जगहों में अलग–अलग रहने लगे। सालों बाद जवान लड़के और लड़कियां आपस में मिले तो उनकी लालसाएं ज्वार भरने लगी। परिणामतः **इन सात जोड़ों के सम्मिलन से सात संथाल कूलों का विकास हुआ। संथालों के अनुसार इन्हीं सात कूलों से सात गोत्र बना जो आज भी किस्कु, मुर्मू, मरांडी, टुडू, हेम्ब्रोम, सोरेन और हंसदा के नाम से जाने जाते हैं।**[12] इन दोनों कथाओं में अंतर सिर्फ इतना ही है कि एक में आठ लड़कियों का जन्म बताया गया है। श्रुत कथा होने के कारण थोड़ी बहुत इधर उधर हो गई होगी। **2001 की जनगणना के अनुसार पूरे झारखण्ड राज्य में आदिवासियों का प्रतिशत 27.67 है।**[13] 2001 की जनगणना के अनुसार संथालों की जनसँख्या 2060730 है।

संथालों में गाँव का प्रधान माझी हड़ाम कहलाता है। इनके समाज में जोग, माझी और नाईकी भी होता है जिसके अनुसार समाज संचालित होता है। परगना पद संथालों की सामाजिक व्यवस्था में सबसे ऊपर होता है जो कई गाँवों को मिलाकर बनता है। संथाल समाज पितृसत्तात्मक है।

कृषि इनकी जीविका का मुख्य साधन है साथ में वे पशुपालन और मजदूरी भी करते हैं। वर्तमान में कई सरकारी पदों पर भी कार्यरत हैं।

ये मूलतः प्रकृति के पूजक हैं। इनका मूल धर्म सरना है तथा सर्वोच्च देवता **सिंगबोंगा** है तथा दूसरा बड़ा देवता **मरांग बुरु** है। मुख्य ग्राम देवता **जाहेर एरा** है जिसका निवास स्थान साल वृक्षों से घिरा **जाहेर थान** होता है। इनके बीच ईसाई मतावलंबी भी काफी संख्या में हैं। धार्मिक जीवन के साथ पर्व–त्योहार जुड़े रहते हैं। संथालों का मुख्य पर्व **बाहा** या **बा, सोहराई** या **बांदना, सरहुल, करम, माघसिम हरिहरसिम** आदि तथा ईसाई मतावलंबी ईसाइयों द्वारा मनाये जाने वाले पर्व त्योहार मानते हैं।

जन्म, विवाह और मृत्यु ये तीन अवसर समाज में महत्वपूर्ण माना जाता है। जन्म ही जीवन का आरम्भ बिंदु है। इसलिए जन्म के पूर्व से ही गर्ववती स्त्री का विशेष ध्यान रखा जाता है। संथाल समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित हैं – **'कीरिंग बापला, कीरिंग जबाई, इतुत, निर्बोलोक, टुनकी दिपिल बापला, घर की जंवाई, सेवा विवाह, सांगा।'**[14] झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया में अशोक सिंह ने संथाली संस्कृति शीर्षक लेख में विवाह(बपला) के बारह प्रकार का जिक्र किया है – **'रायबर बपला,गोलांटी बपला, हिरोम चेतना बपला, ईतयुत बपला, जबाय किरिन बपला, मुंडू और आगु बपला नीर बोलोक बपला तुन्की विपिल बपला , अपानगिर बपला, सहाय बपला, घर जवाय बपला, घरदी जवाय बपला।'**[15] संथाल समाज में बाल विवाह की प्रथा नहीं है। जीजा–साली विवाह और देवर–भौजाई विवाह की मान्यता है, विधवा विवाह भी प्रचलित है। तलाक की प्रथा भी है। वधू मूल्य के रूप में 12 रूपये हैं जिसे **गोनोंगपोन** कहते हैं। झारखण्ड की जनजातियाँ में बिमला चरण शर्मा तथा कीर्ति विक्रम ने **"वधू मूल्य को पोन बताया है जिसमें नकद (51 से लेकर 251)तथा सामान में लड़की के वस्त्र आभूषण, लड़की के परिवार के अन्य सदस्यों के लिए कपड़ा एवं भक्ष्य पदार्थ जैसे चावल, दाल, सब्जी, बकरा आदि शामिल रहता है।"**[16] मृत्यु मनुष्य का अंतिम संस्कार होता है। संथाल समाज में शव को जलाने और दफनाने की दोनों प्रथाएँ हैं।

मुंडा :– मुंडा मुख्यतः रांची और खूंटी जिले के मरांगहदा क्षेत्र तमाड़, तोरपा तथा गुमला जिला के कामडारा में अधिकतर निवास करते हैं। इसके अलावा सिमडेगा, लोहरदगा, हजारीबाग, पलामू गिरिडीह तथा सिंहभूम के इलाकों में भी काफी संख्या में बसे हुए हैं। इसके बाहर बिहार के कुछ जिलों रोहतास, भभुआ, बक्सर, भोजपुर, पूर्णिया, कटिहार, पटना, पश्चिमी चंपारण आदि क्षेत्रों में भी ये बसे हुए हैं। **प्रजातीय दृष्टि से मुंडा को प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।**[17] इनकी भाषा मुंडारी है। यह भाषा आस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार के अंतर्गत आती है।

मुंडाओं का मूल निवास स्थान के संदर्भ में उनकी परंपरा के आधार पर एस• सी• रॉय ने **मुंडास एंड देयर कंट्री** में विस्तार से दी है जिसका हिंदी रूपांतर डॉ• वीर भारत तलवार ने **झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में मुंडाओं का मूल निवास स्थान और छोटानागपुर में उनका आगमन** शीर्षक से इस कथा का अत्यंत सरलतापूर्वक उल्लेख किया है – "**मुंडाओं की एक पौराणिक कथा के अनुसार इक्यासी पिड़ि–तेरासी बादी नामक स्थान मुंडा गण का मूल निवास स्थान था। इसका अर्थ होता है इक्यासी ऊँची जमीन वाले मैदान और तिरासी धान के खेत वाले मैदान। लेकिन जैसा कि राय साहब ने लिखा है इससे किसी विशेष स्थान की सूचना नहीं मिलती। यह एक कल्पित नाम है। इसके अलावा इस नाम में आई इक्यासी और तिरासी संख्याएँ भी हिंदी की है जिससे साबित होता है कि यह नाम बहुत बाद की कल्पना है, क्योंकि मुंडारी में इक्यासी को उपुन हिसि मिद तथा तिरासी को उपुन हिसि अपि कहेंगे।**"[18] मुंडाओं की एक दूसरी धर्मकथा के अनुसार अजबगढ़ वह मूल स्थान था जिसपर मुंडा गण सर्वप्रथम रहे थे। '**कथा के अनुसार अजबगढ़ पहले जलमग्न था उसे भगवान सिंगबोंगा ने जल से बाहर निकाला और मुंडाओं के प्रथम पूर्वज – एक पुरुष और एक स्त्री को उत्पन्न किया। राय साहब ने इस उल्लेख को भी महत्वहीन बतलाया और कहा कि इस कल्पना को – जलमग्न पृथ्वी को जल से बाहर निकाले जाने की पूराण कल्पना को – एक ऐसे स्थान से जोड़ दिया गया है जहाँ पर बहुत बाद में कभी मुंडा लोग रहे थे और उस स्थान का नाम अजीमागढ़ में है जो संयुक्त प्रान्त में है।**'[19] इसके बाद राय साहब ने उन्नीसवीं सदी में हुई पुरातात्त्विक खोजों के आधार पर यह प्रस्ताव रखा है कि '**वास्तव में मुंडा और उससे सम्बंधित गणों का मूल निवास स्थान अरावली और विन्ध्य पर्वत श्रेणियों के बीच था जो आजकल मध्यप्रदेश में है।**'[20] माना जाता है कि मुंडा जब छोटानागपुर में आये थे तब उनमें **21 गोत्र थे पर आज गोत्रों की संख्या 21 से अधिक है। होरो, तोपनो, भेंगरा, नाग, हंस, टूटी, पूर्ति, बडिंग, समद, डाहंगा, बरला, मुंडू तथा सांगा आदि मुंडा गण के गोत्रों के नाम हैं। मुंडारी में गोत्र को किली कहते हैं।**[21] रिजले ने **मुंडा के 340 गोत्रों का जिक्र किया है।**[22] 2001 की जनगणना के अनुसार मुंडाओं की कुल जनसंख्या झारखण्ड में 855887 है।

कृषि इनके जीविका का मुख्य साधन है। शिक्षण और नौकरी में आरक्षण की सुविधा होने कारण इनमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है जिसके कारण कई सरकारी पदों पर नौकरियां मिल रही है।

वर्तमान काल में मुंडा समाज में तीन धर्म प्रचलित हैं– सरना, ईसाई और हिन्दू। एस• सी• रॉय ने मुंडाओं के देवताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है –

"सिंगबोंगा (सर्वोच्च देवता)

हातु बोंगाको(ग्राम देवता)

ओड़ाः बोंगाको (घरेलु देवता)।"[23]

मुंडाओं के सर्वोच्च देवता सिंगबोंगा है। प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान या किसी भी प्रकार के कार्य करने से पहले सिंगबोंगा का आशीर्वाद या वरदान माँगा जाता है। मुंडाओं के अपने परंपरागत त्योहारों में मुख्य हैं – मागे परब, बा परब, कोलोम सिंगबोंगा परब तथा सोहराई। इनके अलावा फागु, दसई और करम परब भी वे मानते हैं। ईसाई धर्मावलम्बी ईसाइयों द्वारा मनाये जाने वाले पर्व–त्योहारों को बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु ये तीन संस्कार मुंडा समाज में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। मुंडा गाँव में तीन विशेष स्थल होते हैं जो जनजातीय गाँव की विशेषता भी मानी जा सकती है। ये स्थान है सरना जहाँ इनके ग्राम देवता निवास करते हैं । अखड़ा गाँव के बीच खुला स्थान होता है जहाँ पंचायत की बैठक होती है तथा जहाँ पर शाम के समय युवक–युवतियाँ नाचते गाते हैं। ससान जो शवाधि या समाधि स्थल है। यहाँ शवों को दफनाया जाता है। वहां मृतकों की पुण्य स्मृति में पत्थर के सिल रखे जाते हैं जिसे ससान दिरि कहा जाता है।

संस्कार का आरम्भ गर्भधारण से ही हो जाता है। गर्भवती स्त्री का खूब ख्याल रखा जाता है। प्रसव से पहले और प्रसव के बाद स्त्री को कुछ खाने पीने में परहेज और काम काज में सावधानी बरतनी पड़ती है ताकि जच्चा

और बच्चा दोनों स्वस्थ रहें। विवाह की आमतौर पर दो पध्दतियां हैं – परंपरागत संस्कारों और बिना संस्कारों का विवाह। विवाह के समय वधू मूल्य के रूप में जो कपड़े और पैसे दिए जाते हैं उन्हें **गोनोंग** कहा जाता है। पहले गोनोंग के रूप में कुछ कपड़े के साथ 5 से 15 रूपये देने पड़ते थे। वर्तमान में गोनोंग के रूप में रुपयों की संख्या हजार तक हो गई है। मृत्यु जीवन का अंतिम संकार होता है। मुंडा समाज में शव को गाड़ने और जलाने की दोनों प्रथाएँ पायी जाती हैं।

उराँव :– जनसंख्या के दृष्टिकोण से झारखण्ड के आदिवासियों में संथालों के बाद दूसरा स्थान उरांवों का है। अन्य आदिवासियों की तुलना में इनका जीवन स्तर कुछ ऊँचा है। उराँव जनजाति के लोग मुख्य रूप से रांची, गुमला, चैनपुर, लातेहार का महुआटांड तथा लोहरदगा जिलों में निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त ये बिहार, छत्तीसगढ़, उड़ीसा तथा भारत के अन्य राज्यों में भी निवास करते हैं। उराँव भाषा एवं परिवार दोनों दृष्टि से द्रविड़ जाति के हैं। डॉ• गुहा ने अन्य आदिवासियों की तरह उरांव को भी **प्रोटो आस्ट्रेलायड** प्रजाति के अंतर्गत स्वीकार किया है। इनकी भाषा कुड़ुख है।

प्रचलित लोककथा के अनुसार उरांवों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है– **"प्रारंभ में एक मुनि तपस्वी वर्षों तक तपस्या में लीन रहे इस दीर्घ काल में उनका शरीर दीमक के ढेर से ढक गया और उसमें कंटीली पौधा निकल आया जिसका एक लम्बा काँटा उसके उर (छाती)में घुस गया। बाद में उस मुनि को दीमक का ढेर समझकर एक लकड़हारे ने उसे अपने कुल्हाड़ी से तोड़ दिया वहां उसने कोई जीवित पुरुष को पाकर आश्चर्यचकित रह गया। ऐसे अचानक तपस्या भंग होने से विचलित मुनि एकाएक खड़े हो गए। तब उनके सीने में धंसा हुआ काँटा टूट गया और रक्त बहने लगा। पृथ्वी पर खून के धब्बे ना पडे, इस इच्छा से उसे अपने अंजुली में भर लिया। जब उन्हें शौच का अनुभव हुआ तो पत्ते का दोना बनाकर उसमें भर दिया और एक छायादार जगह में रख दिया। इस खून से एक लड़का और एक लड़की प्रकट हुए। तब मुनि वहां से चल**

पड़े। मुनि को जाते देख उन लोगों ने कहा रुकिए, हमें छोड़कर मत जाइये। आपने ही हमें संसार में लाया है, हमारी जीविका कैसे चलेगी? मुनि ने उत्तर दिया तुम खेतिहर बनोगे। इस जंगल को साफ करो और खेती को अपना पेशा बनाओ। मुनि के उर से उत्पन्न होने के कारण वे उराँव कहलाए।"[24] गोत्रों की उत्त्पत्ति कैसे हुई? कहना या बताना कठिन है। परंपरागत विचार बतलाता है कि अपने–अपने निवास क्षेत्रों के अनुरूप ही टोटेम का चयन या मान लिया गया है। जिसने नदी घाटी में अपना निवास बनाया उसने कछुआ या मछली को अपना टोटेम मान लिया जैसे एक्का (कछुआ) मिंज (मछली)। जो बाघ से भरे जंगलों में रहे वो बाघ को अपना टोटेम बनाया, जैसे लकड़ा आदि। एस• सी• रॉय ने अपनी पुस्तक **द उराँव ऑफ छोटानागपुर (1915) में उरांवों के 68 गोत्रों का जिक्र किया है।**[25] 2001 की जनगणना के अनुसार उरांवों की कुल जनसँख्या 1054066 है।

कृषि इनके जीवन का मुख्य पेशा रहा है यह उनकी उत्पत्ति के लोककथा से ही स्पष्ट हो जाता है। किन्तु वर्तमान समय में अधिकांश लोगों का रुझान शहरों की ओर रहा है तथा कई सरकारी पदों पर कार्यरत भी हैं जिसके कारण कृषि कार्यों में शत–प्रतिशत अपना योगदान नहीं दे पाते हैं। समाज का राजनीतिक ईकाई **पड़हा** कहलाता है। उराँव समाज में पहान और महतो का विशेष महत्त्व है। किसी भी कार्य को करने या करवाने की जिम्मेदारी तथा गाँव की सुरक्षा का भार इन्हीं पर होता है। पहान और महतो के संदर्भ में एल• पी• विद्यार्थी कहते हैं – **"पहान गाँव बनाता है, महतो गाँव चलता है।"**[26]

वे बहुत सारे भगवान और देवी देवताओं में विश्वास करते हैं। किन्तु उनका सर्वोच्च देवता धर्मेश (सूर्य देवता धसिंगबोंगा) है। अन्य देवी देवताओं में मरांग बुरु, ग्राम देवता ,सीमान्त देवता, कुल देवता आदि। इनके प्रमुख त्योहार हैं – सरहुल , करम , सोहराई , माघे और फागु। उरांवों में भी काफी संख्या में ईसाई धर्मावलम्बी हैं जो ईसाईयों द्वारा मनाये जाने वाले पर्व त्योहारों को मनाते हैं।

अन्य आदिवासियों की तरह उरांवों के जीवन चक्र में भी तीन प्रमुख घटनाएँ हैं – जन्म, विवाह और मृत्यु। गर्भवती स्त्री का विशेष ख्याल रखा जाता है। सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से कुछ निषेधों का पालन किया जाता है जैसे अकेले जंगल, झरने या अन्य स्थानों पर जहाँ बोंगा या अदृश्य आत्माएं निवास करती हैं वहां जाने नहीं दिया जाता है। विवाह जीवन का अंग माना जाता है किन्तु विवाह समगोत्र, नजदीकी रिश्तेदारी व गैर उरांव या गैर जाति में वर्जित है। विधवा विवाह, जीजा–साली विवाह, देवर–भाभी विवाह तथा तलाक का रिवाज भी है। उरांवों में वधू मूल्य के रूप में कुछ नगद राशि, चांदी के आभूषण तथा कपड़े दिए जाते हैं। मृत्यु जीवन का अंतिम पड़ाव है। शव को जलाने और दफनाने की दोनों प्रथाएँ हैं।

खड़िया :– खड़िया मुख्य रूप से सिमडेगा जिले के कोलेबिरा तथा ठेठईटांगर क्षेत्र में और गुमला के पालकोट, कामडारा तथा बसिया आदि क्षेत्रों में पाए जाते हैं। कुछ संख्या में रांची, पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम, लातेहार, हजारीबाग, चतरा, कोडरमा धनबाद, गिरिडीह , बोकारो , लोहरदगा तथा संथाल परगना के जिलों में निवास करते हैं । गुमला सिमडेगा के साथ–साथ सिसई , पालकोट ,बसिया , रायडीह ठेठईटांगर, कुरडेग, बोलबा, कोलेबिरा आदि प्रखंडों में इनकी अच्छी आबादी बसी है। झारखण्ड के बाहर बिहार के भागलपुर और पुरनिया जिले तथा उडीसा के सुंदरगढ़, संबलपुर एवं क्योंझर जिलों में एवं मध्यप्रदेश में भी इनकी संख्या काफी है।

मानाशास्त्रियों ने खड़िया समुदाय को तीन उपविभागों में विभाजित किया है। वे इस प्रकार हैं – '1.**पहाड़ी खड़िया (हिल खड़िया/एरेंगा खड़िया/वाइल्ड खड़िया) 2. ढेलकी खड़िया 3. दूध खड़िया।**'[27] डेलकी खड़िया को गैर खड़िया लोग ढेलकी खड़िया कहते हैं। ढेलकी शब्द डेलकी क्रिया का विकृत रूप है। स्थानांतरण के समय डेलकी खड़िया समुदाय ही छोटानागपुर में पहले पहुँचा इस कारण वह अपने को बड़ा खड़िया मानता है किन्तु शिक्षा तथा सामाजिक सभ्यता के क्षेत्र में दूध खड़िया से पीछे है। हां लेकिन एरेंगा खड़िया की तुलना में शिक्षा

तथा सामाजिक सभ्यता के क्षेत्र में आगे हैं। डेलकी खड़िया सिमडेगा जिला के टांयसेर, कुरडेग और डूम्बरटोली इलाकों में पाए जाते हैं। दूध खड़िया सिमडेगा तथा गुमला जिला में बसे हुए हैं। पहाड़ी खड़िया एक जगह स्थिर नहीं रहते हैं। पहाड़ों और जंगलों की शरण लेते रहते हैं। वास्तव में वर्तमान पहाड़ी खड़िया **सबर** खड़िया है। ये सिंहभूम जिले में विशेषकर घाटशिला और मुसाबनी इलाके में निवास करते हैं। डेलकी खड़िया, दूध खड़िया और एरेंगा खड़िया, खड़िया का ही उपविभाग हैं किन्तु इनमें एरेंगा खड़िया (पहाड़ी खड़िया) बाकी खड़िया से भिन्न, कमजोर और पिछड़ा हुआ है जबकि डेलकी और दूध खड़िया सगा भाई की तरह हैं। दूध खड़िया सभी खड़िया समुदायों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। **प्रजातीय दृष्टि से खड़िया को प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।**[28] खड़िया इनकी भाषा का नाम है ।

खड़िया गोत्र की उत्पत्ति से संबंधित अनेक खड़िया बुजुर्गों ने विभिन्न तरीके से लोककथा का व्यक्तिगत वर्णन दिया है उनमें फिलिप कुल्लू के वर्णनानुसार – "**अयोध्या में एक खड़िया बूढ़ा और बूढी के नौ बेटे और नौ बेटियाँ हुईं। जब संतानें वयस्क हो गयीं तो बूढ़ा और बूढ़ी ने सोचा कि उनकी शादी करा दी जाए। उनकी समस्या थी कि सगे भाई–बहनों में शादी कैसे करायी जाए। अतः बूढ़े पिता ने उन्हें शिकार के लिए भेजा। पिता के आदेशानुसार उन्हें सिर्फ उड़ते हुए हिरण को मारना था। पिता का यह भी आदेश था कि जब उन्हें शिकार हाथ ना लगे तब तक घर न लौटे। बड़े भाइयों को चिंता हुई कि किस तरह उड़ते हुए हिरण का शिकार करें। कई दिन गुजर गए एक भी शिकार हाथ न लगा। एक दिन नौ भाई शिकार के लिए जंगल में प्रवेश किये। बड़े भाई कनीसिया घाट पर बैठे। छोटे भाई जंगल के चारों ओर छापा मारते थे। बड़े भाई ने हिरण को अपनी ओर आते देखा। उसने अपना सर ऊँचा किया। उसे देखकर हिरण ने लम्बी छलांग लगाई। जैसे ही हिरण ने लम्बी छलांग लगायी, उसने तीर चलाया। तीर ने उसके प्राण छेद डाले। पिता का वचन अब पूरा हो गया। सब भाइयों में खुशी की लहर दौड़ पड़ी। वृक्ष की शीतल छाँव में उन्होंने मांस काटा। वे मांस पकाना चाहते थे लेकिन वहां जल न मिला। पकाने के लिए उन्होंने अलग मांस रखा। शेष मांस को उन्होंने नौ भागों में विभाजित किया। अब जल की**

खोज में अन्यत्र निकले। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे अपना सामान रखा और छोटा भाई को पेड़ के नीचे बैठा दिया। शेष भाई अलग–अलग दिशा में गए। बड़ा भाई को चट्टान पर बहता जल कुण्ड मिला। जल पीने के लिए वह उतरा। जल पीते समय बड़े भाई ने जल के बीच एक पत्थर देखा। जल की खोज करते हुए अन्य भाई भी वहाँ आ पहुँचे। जल पीते समय दूसरे भाई ने कुल्लू (कछुआ) देखा, तीसरे ने डुंगडुंग(मछली),चौथे ने बाः (धान) देखा, पांचवे को नमकीन जल मिला, छठे भाई ने केरकेट्टा(पक्षी),सातवें ने टेटेटोहोंएज(पक्षी), आठवें ने टोप्पो(पक्षी), नवें भाई ने किड़ो को जल पीते हुए देखा। लौटकर किसी ने इस रहस्य का भेद नहीं खोला। जल लेकर उन्होंने भात पकाया। मांस भूना और भरपेट भोजन किया। शेष मांस को अपने अंगोछे में बाँधकर घर लौट गए। घर में गठरी खोलने पर विभिन्न जीव और वस्तुएँ मिलीं। उन्हीं वस्तुओं के आधार पर पिता ने नौ भाइयों का गोत्र निश्चित कर दिया।"[29] 2001 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसँख्या 141771 है ।

अन्य आदिवासियों की तरह इनका भी मुख्य पेशा कृषि है। वर्तमान में कई क्षेत्रों में सरकारी नौकरियां भी करने लगे हैं। खड़िया समाज में सामाजिक कार्य व्यवस्था आज भी विद्यमान हैं। घर का कोई भी काम समाज की सहायता के बिना संभव नहीं। गृह निर्माण, गृहस्ती से लेकर जन्म, मृत्यु और शादी विवाह के सभी कार्य समाज की मदद से ही संपन्न होते हैं। परिवार पितृसत्तात्मक होता है। बहु विवाह और विधवा विवाह की अनुमति है। समाज में शव को जलाने और दफनाने की दोनों प्रक्रियाएं हैं किन्तु ज्यादातर शव को दफनाया जाता है।

भगवान को खड़िया लोग **बेड़ो–लेरांग, साखी गोसांई या पोनोमोसोर** कहकर पुकारते हैं। पोनोमोसोर का खड़िया अर्थ है– पुण्योम मोःसोर जिसका अर्थ है – पूर्ण शक्ति, आदि शक्ति, स्व उत्पन्न शक्ति आदि। इनकी पूजा वे श्रध्दा के साथ करते हैं। इनके अलावा वे कृषि देवताओं की पूजा करते हैं जो वर्ष के विभिन्न अवसर पर होती रहती है। इनके प्रमुख त्योहार हैं – जांगकोर अथवा सरहुल, फागुन पर्व, गोम्हापुनी पर्व और पूस जतरा (पूस कुःढिंग) आदि। खड़िया काफी संख्या में

ईसाई हो गए हैं इसलिए वे ईसाइयों द्वारा मनाये जाने वाले त्योहारों को बड़ी धूमधाम से मानते हैं।

हो :– हो जनजाति के लोग मुख्य रूप से सिंहभूम जिले के कोल्हान क्षेत्र में बसे हुए हैं। ये कोल्हान क्षेत्र में पहले से ही बसे हुए हैं। इनकी भाषा हो है जो मुंडा ग्रुप की ही भाषा है। **प्रजातीय ट्टष्टि से हो को प्रोटो आस्ट्रेलायड की श्रेणी में रखा गया है।**[30] एशिया का सबसे घना जंगल सारंडा इन्हीं क्षेत्रों में है जो वन सम्पदा के लिए सदा से प्रसिद्ध है। हो जनजाति के गाँव सामान्यतः नदियों के किनारे या झरनों के समीप बसे होते हैं। गाँव के मुख्यतः स्थल हैं – अखड़ा, ससान और सरना। हो के निम्नलिखित प्रमुख गोत्र हैं – अल्डा, बोदरा, बिरुआ, पिंगुआ, बोयोपाई, बिरुली, बालमुचू, बोबोंगा, बागे, बडाय, चातार, चातोम्बा, चाकी, चरद, चौडा, दोराई, बुरु, दिग्गी, देवगम, गगराई, हंसा, हंसदा, हेम्ब्रोम, जामुदा, जेरई, जारिका, कुदादः, कैका, कलुडिया, कंडेयांग, मेलगंडी, लागुरी, लुगुन आदि।

हो जनजाति झारखण्ड की जनजातियों में जनसँख्या के ट्टष्टिकोण से चौथा स्थान रखती है। **2001 की जनगणना के अनुसार हो जनजाति की जनसँख्या 536523 है ।**[31]

हो मुख्यतः कृषक होते हैं किन्तु जंगल भी इनके जीविका का मुख्य साधन है। 1903 में भारत के टाटा नगर में लोहे का पहला कारखाना होने के साथ ही पूरा सिंहभूम जिला औधोगिक नगरी में बदलता गया। वर्तमान में सरकारी नौकरी भी कर रहे हैं किन्तु अधिकतर हो जनजाति के लोग इन्हीं औधोगिक कारखानों में मजदूर का काम कर रहे हैं।

सिंगबोंगा इनके मुख्य देवता हैं इनके अलावा नागेबोंगा, देसौली या हातुबोंगा प्रमुख हैं। इनके मुख्य पर्व त्योहारों में मागे (जनवरी फरवरी), बाहा (मार्च अप्रैल), हेरो (मई जून), बातउली (जून जुलाई), दमुरई (धनरोपी), जोमनामा (जुलाई अगस्त) कोलोभ (नवम्बर दिसंबर) आदि हैं।

जन्म, विवाह और मृत्यु जीवन का मुख्य चक्र है। जन्म शुभ माना जाता है। यह वैवाहिक जीवन की सफलता समझा जाता है इसलिए गर्भधारण के साथ ही स्त्री का खूब ख्याल रखा जाता है। आंदी बपला बहुप्रचलित है जो माता–पिता के द्वारा आयोजित विवाह है। इनके अलावा दिकु आंदी, ओपोरतिपी, राजी–खुशी तथा अनादर आदि विवाह के प्रमुख प्रकार हैं। मृत्यु जीवन का अंतिम पड़ाव है। समाज में शव को गाड़ने और जलाने की दोनों प्रथाएँ हैं।

कोरवा :– झारखण्ड की आदिम जनजातियों में कोरवा जनजाति भी एक है। झारखण्ड में कोरवा मुख्यतः गढ़वा, पलामू और लातेहार जिले के पहाड़ी क्षेत्रों में बसे हुए हैं। जहाँ इन्हें साल भर जंगलों से कंद–मूल, फल–फूल आदि उपलब्ध होते हैं। छिटपुट रूप से गुमला, सिमडेगा, भंडरिया तथा चैनपुर व महुआटांड प्रखंडों में भी बसे हुए हैं। इनके गांवों को दो तरह से पुकारा जाता है– पहाड़ पर रहने वाले को पहाड़ी कोरवा तथा पहाड़ी के नीचे रहने वालों को डीहरिया कोरवा कहते हैं। झारखण्ड के अलावा बिहार में रोहतास, भोजपुर, पूर्णिया और मुंगेर तथा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर क्षेत्र में पाए जाते हैं। हट्टर टिट्टी(चिड़िया), कासी(घास), सुइयां(चिड़िया), खप्पो कोकट एवं बुचंग (चिड़िया) आदि इनके प्रमुख गोत्र हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार कोरवा की जनसंख्या 21940 है।

इनकी भाषा कोरवा है जो मुंडा ग्रुप की है। **प्रजातीय दृष्टिकोण से ये भी प्रोटो आस्ट्रेलायड ही माने जाते हैं।**[32] ये अपनी भाषा बोली भूल चुके हैं और सादरी तथा हिंदी भाषा का प्रयोग करते हैं।

खेती इनका मुख्य पेशा है किन्तु ऊंची पहाड़ी पर बसने के कारण इनके पास खेती के लिए सिर्फ टांड़ ही है जहाँ पर गोड़ा धान, गोंदली, मकई व मडुआ की ही खेती होती है जो जीविका के लिए पर्याप्त नहीं है, इसलिए कृषि के साथ–साथ संग्रह (वनोपज), शिकार, पशुपालन, और मजदूरी करते हैं।

कोरवा प्रकृति पूजक होते हैं। सिंगबोंगा (सूर्य) को वे सर्वशक्तिमान ईश्वर मानते हैं। इनके अलावा वे कई देवी–देवताओं की पूजा करते हैं जैसे– धरती माई, ग्राम देवता, कुल देवता। धार्मिक कार्यक्रमों का निष्पादन बैगा कराते हैं। अन्य जनजातियों की तरह सरहुल, करमा, सोहराई फगुआ नवाखानी, दशहरा आदि पर्व मनाते हैं।

बिरजिया :– बिरजिया झारखण्ड की एक अल्पसंख्यक जनजाति है। ये आज भी घने जंगलों में रहते हैं। ये मुख्य रूप से पलामू के बरवाडीह, महुआटांड भंडरिया, बालूमाथ प्रखंड, गुमला जिला के बिशुनपुर, रायडीह तथा लोहरदगा जिले के सेन्हा और किस्को प्रखंड में पाए जाते हैं। इनकी कुछ आबादी सिमडेगा में भी मिलती है। असुरों की तरह ये भी पहाड़ी इलाकों में रहते हैं, जो जंगल पहाड़ों से भरा इलाका है। बिरजिया चूँकि असुर जनजाति का ही एक उपवर्ग है इसलिए इनका इतिहास असुर के ही समान है। 2001 की जनगणना के अनुसार बिरजिया की जनसँख्या 4057 है जिनकी संख्या आदिम जनजातियों में सवर जनजाति से थोड़ा अधिक है।

प्रजातीय दृष्टि से बिरजिया प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में आते हैं।[33] इनकी भाषा बिरजिया है। बिरजिया को सामाजिक व्यवस्था के अनुसार दो भागों में बाँटा गया है – सिंदुरिया और तेलिया। तेलिया बिरजिया के दो उपभाग हैं – दूध बिरजिया और रश बिरजिया। सिंदुरिया बिरजिया विवाह में सिंदूर का प्रयोग करते हैं जबकि तेलिया बिरजिया सिन्दूर का प्रयोग नहीं करते हैं।

खेती जीविका का मुख्य पेशा है। वे मुख्य रूप से मकई, उड़द, राहर, बोदी, तिल आदि की खेती करते हैं। पशुपालन में सूअर, मुर्गी, गाय, बैल बकरी आदि करते हैं। काश्तकारी बिरजिया का मुख्य उपपेशा है। कुछ बिरजिया लुहारगिरी का काम करते हैं तथा कुछ बिरजिया बांस का काम भी करते हैं।

बिरजिया के मुख्य देवी–देवता – सींगी, महादेव पार्वती, बघौत, दरहा, मड़ई देवता आदि हैं। धार्मिक जीवन में सरना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान

है। सरहुल तथा करमा की पूजा बैगा द्वारा की जाती है। करम, सोहराई, सरहुल, फगुआ, आषाढ़ आदि प्रमुख त्योहार हैं।

बिरहोर :– बिरहोर विलुप्त होती जा रही अल्पसंख्यक आदिम जनजाति है। ये मुख्यतः हजारीबाग, चतरा, कोडरमा, रांची, सिमडेगा, गुमला, लोहरदगा, सिंहभूम, बोकारो, गिरिडीह और धनबाद में पाए जाते हैं। बिरहोर अपने को खरवार समूह का मानते हैं। "**फोरबिस कहते हैं कि बिरहोर निस्संदेह मुंडा ग्रुप के हैं और इनकी भाषा मुंडारी व संथाली से बहुत मिलती जुलती है।**"[34] बिरहोर एक घुमंतू जाति है जो छोटे–छोटे समूहों में, परम्परा से जंगलों में रहकर, घूम फिर कर कंद–मूल, फल–फूल आदि वन्य पदार्थों का संग्रह कर तथा शिकार द्वारा अपना जीवन–यापन करते हैं। घुमंतू होने के कारण इनकी जनसँख्या का सही अनुमान कर पाना मुश्किल होता है। 2001 की जनगणना के अनुसार बिरहोरों की जनसंख्या 4377 हैं।

प्रजातीय दृष्टि से बिरहोर को प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।[35] इनकी भाषा बिरहोरी है जो मुंडारी भाषा का ही एक रूप है। इनका संबंध संथाल, मुंडा और हो लोगों से है। इनकी जाति बिरहोर का नाम ही मुंडारी भाषा के दो शब्द बिर और होर से बना है। बिर का अर्थ है जंगल तथा होर का अर्थ है आदमी अर्थात जंगल का आदमी। जंगलों में घूम फिर कर भोजन एकत्र करने के कारण ही इनकी जाति का नाम बिरहोर रखा गया। हो न हो, यह नाम उन्हें मुंडा, संथाल और हो जाति के लोगों ने ही दिया हो क्योंकि इन तीनों की भाषा काफी मिलती जुलती है तथा इनके साथ बिरहोरों का नजदीकी का संबंध बताया जाता है।

बिरहोरों के दो उपवर्ग हैं – उथलू या भुलिया (घुमक्कड) और जांघी या थानिया (अधिवासी)। जांघी बिरहोर स्थायी कृषक हो गए हैं।

लोहरा :– लोहरा झारखण्ड की अनुसूचित जनजातियों में एक पेशेवर जाति है, जिसका परंपरागत पैतृक पेशा लुहारी है। लोहरा के अलावा करमाली और असुर का भी मुख्य धंधा लुहारगिरी है। आज भी लोहरा अपनी लुहारगिरी बरकरार रखे हैं यानि कृषि कार्य में आने वाले लोहे के औजारों को तेज करना लोहरा का ही काम है। झारखण्ड में लोहरा मुख्यतः रांची, गुमला, सिमडेगा, लोहरदगा, पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम, संथाल परगना, हजारीबाग, पलामू, धनबाद, बोकारो, गिरीडीह आदि जिलों में पाए जाते हैं। लोहरा और लोहार को लेकर यह भ्रम बना हुआ है कि इनमें से कौन आदिवासी है? किन्तु सच तो यह है झारखण्ड में अनुसूचित जनजाति के रूप में लोहरा को स्वीकारा गया है। 2001 की जनगणना के अनुसार इनकी आबादी 169089 है।

प्रजातीय दृष्टि से लोहरा को प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।[36] ये सदानी भाषा का प्रयोग करते हैं जो इंडो आर्यन भाषा परिवार की बोली है।

लोहरा शिल्पी वर्ग के होने के कारण विश्वकर्मा भगवान की पूजा करते हैं। साथ में अपने लुहारी के औजारों की भी पूजा करते हैं। सिंगबोंगा और धरती माई इनके श्रेष्ठ देवता हैं। सरहुल, करमा सोहराई, जीतिया, नवाखानी आदि इनके प्रमुख त्यौहार हैं।

माल पहाड़िया :– इनका प्राकृतिक आवास संथाल परगना में जंगलों से भरी पहाड़ियां है। राजमहल पहाड़ी पर बसे माल पहाड़िया जनजाति के व्यक्तित्व को वहां की पहाड़ियों ने ही गढ़ा है तथा उनकी आस्था और विश्वास को पर्यावरण ने बनाया है। माल पहाड़िया मुख्यतः संथाल परगना के दुमका, जामताड़ा, गोड्डा, देवघर, पाकुड़ आदि जिलों में बसे हुए हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या 79322 है।

प्रजातीय दृष्टि से माल पहाड़िया को प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।[37] इनकी भाषा माल्टो है जो द्रविड़ परिवार की मानी जाती है।

असुर :– झारखण्ड में असुर जनजाति मुख्यतः गुमला, लोहरदगा तथा पलामू जिले में हैं। छत्तीसगढ़ के जशपुर तथा सरगुजा में भी कुछ असुर पाए जाते हैं। असुरों को झारखण्ड में विशेष संरक्षित श्रेणी में रखा गया है, लेकिन छत्तीसगढ़ में ये उपेक्षित हैं। असुरों की उत्पत्ति के संदर्भ में '**विष्णु पुराण के अंश में असुरों को ब्राह्मण का पहला जन्म बताया गया है और ऐसा माना गया है कि उनका जन्म ब्राह्मण के उरु(जांघ) से हुआ है।**'[38] वहीं महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है कि '**असुर लोग देवताओं के बड़े भाई थे।**'[39] असुर जनजाति के तीन उपवर्ग हैं – वीर असुर, बिरजिया असुर और अगारिया असुर। 2001 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसँख्या 9100 है।

'**भाषा परिवार की दृष्टि से असुरी भाषा आस्ट्रिक वर्ग के अंतर्गत आती है तथा प्रजातीय दृष्टिकोण से प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।**'[40] इनकी अपनी बोली असुरी है जो मुंडारी की उपबोली है। इनकी भाषा मुंडारी से काफी मिलती जुलती है।

आदिकाल से ही असुर जनजाति लौह कर्मी रहे हैं। लोहा गलाना इनका मुख्य पेशा रहा है। पहले स्थानांतरित या झूम कृषि इनके जीविका का मुख्य साधन हुआ करता था। स्थानांतरित कृषि के कारण जंगल धीरे–धीरे साफ होते जा रहे थे जिससे पर्यावरण में बदलाव आने लगा। इन्हीं सब कारणों से ये अब स्थायी कृषि करने लगे हैं।

असुर सिंगबोंगा और मरांगबोंगा में विश्वास करते हैं, जिसकी पूजा बैगा के द्वारा की जाती है। अन्य आदिवासियों की तरह असुर भी प्रकृति पूजक रहे हैं इसलिए प्रकृति की शक्तियों की उपासना करना इनका धर्म है। सरहुल, सोहराई, फगुआ, कथदडेली, करमा और सरही–कुटासी आदि उनका मुख्य त्यौहार है।

ज्ञात हो कि इस अध्याय में झारखण्ड के आदिवासियों में से कुछ प्रमुख तथा कुछ गौण जनजातियों का ही बिलकुल सामान्य परिचय दिया गया है। हर समुदाय की अपनी–अपनी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था होती है तथा समाज

में प्रचलित शासन प्रणाली का सम्मान भी वे भली–भांति करते हैं। सभी अपने–अपने गोत्र में बंटे हुए हैं। अलग–अलग जनजातिवार आंकड़ा 2011 की जनगणना के अनुसार अभी जारी नहीं किया गया है। किन्तु प्रभात खबर की एक रिपोर्ट के हवाले से यह साफ है कि राज्य की सबसे बड़ी जनजाति संथाल है जिनकी कुल जनसँख्या 27.54 लाख है। इनके बाद उराँव (लगभग 17.16 लाख) व मुंडा करीब (12.29 लाख) है। दरअसल संथाल उरांव व मुंडा कुल जनजातीय आबादी के करीब 66 फीसदी हैं। अकेले संथालों की आबादी ही कुल जनजातीय आबादी की लगभग 32 फीसदी है। राज्य में कुल 32 जनजातियाँ रहती है। इनमें से आठ आदिम जनजाति की श्रेणी में शामिल हैं। 24 जनजातियों की कुल आबादी करीब 83.52 लाख है। वहीं आठ आदिम जनजातियों की कुल आबादी लगभग 2.92 लाख है। पूरे जनजातीय समुदाय की कुल आबादी वर्ष 2001 की तुलना में 15.5 लाख बढ़ी है।

इस प्रकार प्रजातीय दृष्टि से झारखण्ड के सभी आदिवासियों को प्रोटो आस्ट्रेलायड वर्ग में रखा गया है। प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह के व्यक्तियों के त्वचा का रंग गहरे काले तथा भूरे होते हैं। उनके बाल काले तथा घुंघराले होते हैं। माथा चौड़ा तथा नाक चपटी होती है। इस प्रकार थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ सभी जनजातियों की विशेषताएं काफी मिलती जुलती है।

सन्दर्भ

[1]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –35

[2]वही पृ• सं• –36

[3]झारखण्ड रूइतिहास एवं संस्कृति , डॉ. बी. वीरोत्तम ,पृष्ठ संख्या –9

[4]छोटानागपुर के डेलकी खड़िया, डॉ. जोवाकिम डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –25

[5]वही पृ• सं• –22

[6]वही पृ• सं• –22

[7]झारखण्ड दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने, सं. हरिवंश पृष्ठ संख्या –16

[8]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –687

[9]असुर, राजेश्वरी प्रसाद, पृष्ठ संख्या –3

[10]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–111

[11]वही पृ• सं• –411

[12]झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया, सं. रणेंद्र, पृष्ठ सख्या –130–131

[13]संथाल जनजाति में महिलाओं की स्थिति, डॉ. दिलीप कुमार, डॉ. भोलानाथ सहाय, पृष्ठ संख्या –3

[14]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–419

[15]झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया, सं. रणेंद्र, पृष्ठ सख्या –134

[16]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–419

[17]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–346

[18]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या–79–80

[19]वही पृ• सं• –80

[20]वही पृ• सं• –80

[21]वही पृ• सं• –56

[22]The bio-cultural profiles of tribal Bihar, L.P. Vidyarthi, Ajit K. Singh, page no-22

[23]The Mundas and their country , Sarat Chandra Roy , page no -267

[24]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–365 –366

[25]वही पृ• सं• –382

[26]The bio-cultural profiles of tribal Bihar, L.P. Vidyarthi, Ajit K. Singh, page no-16

[27]The Kharias , Sarat Chandra Roy, page no- 21

[28]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–231

[29]खडिया जीवन और परम्पराएँ, डॉ. जोवाकिम डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –66

[30]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–189

[31]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. चतुर्भुज साहु, पृष्ठ सख्या –44

[32]झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया, सं. रणेंद्र, पृष्ठ सख्या –51

[33]झारखण्ड की जनजातियाँ, डॉ. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम, पृष्ठ सख्या–10

[34]वही पृ• सं• –91

[35]वही पृ• सं• –91

[36]वही पृ• सं• –306

[37]वही पृ• सं• –330

[38]The Mundas and their country , Sarat Chandra Roy , page no -14

[39]The Mundas and their country , Sarat Chandra Roy , page no –18

[40]The Mundas and their country , Sarat Chandra Roy , page no -4

अध्याय दो

झारखण्ड के आदिवासी कथाकारों का सामान्य परिचय :–

आदिवासी साहित्यकारों की संख्या गिनती की ही है। ये साहित्यकार झारखण्ड के विभिन्न जनजातियों में से आते हैं। इन साहित्यकारों में डॉ. रामदयाल मुंडा, मंगल सिंह मुंडा तथा वाल्टर भेंगरा तरुण मुंडा जनजाति, डॉ. रोज केरकेट्टा खड़िया जनजाति, पीटर पॉल एक्का उरांव तथा रूपलाल बेदिया, बेदिया जनजाति के अंतर्गत आते हैं। इन आदिवासी कथाकारों का हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन्होंने एक अंधे को रास्ता दिखाने का काम किया है। अपनी संस्कृति, जीवन, तथा कला के साथ–साथ समाज में व्याप्त समस्याओं को लेखन के माध्यम से लोगों को जागरूक करने की कोशिश कर रहे हैं। आदिवासियों के साहित्य की बात कही जाए तो साफ़ है उनका कोई लिखित साहित्य नहीं हुआ करता था। शुरू से उनका मौखिक साहित्य समाज में चल पड़ा था। उनका यह साहित्य बहुत ही लोकप्रिय और प्रयोगात्मक था। यह पीढ़ी दर पीढ़ी चल रहा था। कथा–कहानियों का समाज में विशेष स्थान था। शिक्षा देने या लेने या फिर अपनी संस्कृति के बारे में जानने या किसी को समझाने के लिए किस्से कहानियों का ही प्रयोग किया जाता था। उनकी संस्कृतियों की झलक सिर्फ घोटुल, धुमकुड़िया, पेल्लोएड़पा या कोई अन्य युवा गृह में ही दिखाई नहीं देता था अपितु इससे इतर वर्ष के हर माह, रोपनी, कटनी, शादी ब्याह के विभिन्न रस्मों, तथा जन्म से लेकर मृत्यु तक हर छोटे–बड़े कार्यक्रमों में उनकी संस्कृति ही झलकती थी। अर्थात अपना मौखिक साहित्य अपने आने वाली पीढ़ी को सौंपने तथा इनकी रक्षा करने का यह अच्छा मौका होता था। अब इन सभी अवसरों पर अत्याधुनिक तकनीकियों का प्रभाव बढ़ गया है। ऐसे में यह समस्या खड़ी हो रही है कि आने वाली पीढ़ी को यह भी मालूम नहीं होगा कि शहरी कोलाहल से इतर भी कोई समाज होता था जो बहुत खूबसूरत था। अब आदिवासी समाज में भी बच्चों को जन्म के साथ ही विभिन्न सुविधाओं एवं तकनीकियों के बीच रखा जाता है जिससे उन्हें दूसरे परिवेश का आभास तक नहीं होता। ऐसी स्थिति में लिखित साहित्य के माध्यम से अपनी

संस्कृति व समाज को बचाने का जो प्रयास इन साहित्यकारों ने किया है वह सराहनीय है।

चूँकि लेखन की प्रक्रिया आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा पचास के दशक में ही शुरू हो गई थी, किन्तु विभिन्न प्रकार की समस्याओं के कारण उनका लिखित साहित्य किसी किताबों के ढेर या किसी तहखाने में ही दब जाते थे। अशिक्षा भी मुख्य समस्या रही होगी जिससे उन किताबों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था। हाल ही में वंदना टेटे जी ने एक कहानी संग्रह सम्पादित की है **"एलिस एक्का की कहानियाँ।"** उन्होंने यह माना है कि एलिस एक्का हिंदी की पहली आदिवासी स्त्री कथाकार हैं। उन्होंने पचास के दशक में हिंदी में लेखन आरम्भ किया था और 1947 से शुरू हुई साप्ताहिक **'आदिवासी '** की वह नियमित लेखिका थीं। एलिस की अब तक प्राप्य पहली कहानी **'आदिवासी' के 17 अगस्त 1961, वर्ष 15 , अंक 28 –29 में छपी है। जिसका शीर्षक है 'वनकन्या'।**[1] इस संग्रह में छह कहानियाँ हैं। सभी कहानियों के केंद्र में प्रकृति और आदिवासी स्त्रियाँ हैं। सभी स्त्रियों का जल, जंगल, जमीन और अपने प्राकृतिक परिवेश, उस परिवेश में रहने वाले अन्य जीव–जंतुओं समस्त पेड़–पौधों और वनस्पतियों से गहरा जुड़ाव है। कहानियों में लेखिका ने आदिवासी हिंदी भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने जगह जगह क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग किया है और बिना किसी लाग लपेट के अपनी रचना में क्षेत्रीयता का रस डाला है। उन्होंने अपनी कहानियों में कोई चमत्कारिक वाक्य नहीं डाला है बल्कि उन्हें वैसा ही रहने दिया है जैसा कि उनको बोलने वाले लोग साधारण हैं। हमें यह लगता है कि आदिवासी साहित्यकारों को अपने लेखन में जादुई यथार्थ या चमत्कार के दावे की आवश्यकता भी नहीं है । यही वह भाषा शैली है जो एक आदिवासी साहित्यकार को गैर आदिवासी साहित्यकार से अलग करती है और आदिवासी साहित्य होने का असली रसानुभूति देती है।

लिखित साहित्य की परंपरा व्यवस्थित रूप से कुछ एक दशक पहले ही शुरू हुई है। गरीबी और जीवन यापन की कठोर समस्याओं के कारण आदिवासियों में समाज तथा देश के लिए कुछ करने की लालसा बहुत कम लोगों में पायी जाती है। यह उनकी प्रवृत्ति कहें या कमजोरी एक स्तर तक पढ़ाई करने के बाद वे किसी भी प्रकार

का रोजगार लेकर बैठ जाते हैं। उनमें शिक्षा का प्रतिशत भी बहुत कम है। इन्हीं सब कारणों से हिंदी साहित्य में आदिवासी साहित्यकारों की संख्या बहुत कम है। किन्तु जितने भी हैं वे हिंदी साहित्य में मजबूती के साथ आगे बढ़े हैं, साथ ही निष्ठावान होकर अपनी रचनाओं के माध्यम से आदिवासी साहित्य को हिंदी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का काम किये हैं और कर रहे हैं। प्रस्तुत है झारखण्ड के उन्हीं आदिवासी साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय जिनके बिना आदिवासी साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

डॉ. राम दयाल मुंडा :–

डॉ. राम दयाल मुंडा का जन्म तमाड़ के दिउड़ी ग्राम में (तत्कालीन रांची जिला/वर्तमान खूंटी जिला) 23 अगस्त 1939 को हुआ था। उनकी प्राइमरी तथा हाई स्कूल की पढ़ाई तमाड़ तथा खूंटी में हुई थी। उन्होंने मानव विज्ञान में बी. ए. तथा एम. ए. रांची विश्वविद्यालय रांची से किया। उन्होंने भाषा विज्ञान में भी एम. ए. किया तथा पी–एच.डी. भाषा विज्ञान में ही शिकागो विश्वविद्यालय अमेरिका से किया।

डॉ. राम दयाल मुंडा बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। विभिन्न प्रतिभा से ओत–प्रोत हरफनमौला मुंडा जी एक सामान्य कृषक परिवार में जन्म लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय उड़ान भरी। अमेरिका में उन्होंने 18 वर्षों तक रहा। वहाँ रहते हुए वे कहा करते थे – **अपने झारखण्ड के लिए अगर झाड़ू मारने का भी काम मिले तो मैं अमेरिका की नौकरी त्याग सकता हूँ।**[2] अपनी इच्छा शक्ति के बल पर ही उन्होंने डॉ• कुमार सुरेश सिंह कमिश्नर सह कुलपति का आमंत्रण सहर्ष स्वीकारा और रांची विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के संस्थापक निदेशक के रूप में अपना पदभार संभाला। साथ ही साथ बिरसा मुंडा एवं जयपाल सिंह मुंडा की विरासत को आगे बढ़ाते हुए झारखण्ड आन्दोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

उनकी उपलब्धियों और जीवन का संक्षिप्त परिचयः–

जन्म स्थलः– ग्राम दिउड़ी तमाड़ रांची(वर्तमान खूंटी) झारखण्ड ।

जीवन काल :– 23 अगस्त 1939 से 30 सितम्बर 2011

शिक्षाः– लुथेरन मिशन स्कूल अमलेसा, तमाड़ रांची 1946–53

एस• एस• हाई स्कूल खूंटी , रांची 1953–57

रांची विश्वविद्यालय रांची, बी• ए•, एम• ए• (मानव विज्ञान) 1957–63

शिकागो विश्वविद्यालय, अमेरिका, एम• ए•, पीएच. डी.(भाषा विज्ञान), 1963–70

फेलोशिपः– अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंडियन स्टडीज़, 1977–78

फुल ब्राइट, सयुंक्त राज्य अमेरिका , 1996

यूनाइटेड स्टेट एजुकेशन फाउंडेशन इन इंडिया, 1996

जापान फाउंडेशन टोकियो, 2001

शोध एवं अध्यापनः– शोध सहायक, दक्षिण एशियाई भाषा एवं संस्कृति विभाग

शिकागो विश्वविद्यालय, 1963–70

असिस्टंट प्रोफ़ेसर, एसोसिएट प्रोफेसर ,साउथ एशियाई अध्ययन

विभाग, मिनेसोटा विश्वविद्यालय, सयुंक्त राज्य अमेरिका,

1970– 81

विजिटिंग प्रोफ़ेसर आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी, कैनबरा

1983

विजिटिंग प्रोफ़ेसर सिराक्यूज विश्वविद्यालय, न्यूयार्क 1996

विजिटिंग प्रोफ़ेसर टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ़ फॉरेन स्टडीज

2001

यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग रांची विश्वविद्यालय, 1981–2011

प्रशासनिक : संस्थापक विभागाध्यक्ष जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग रांची विश्वविद्यालय, 1980–85

उपकुलपति, रांची विश्वविद्यालय, 1985–86

कुलपति, रांची विश्वविद्यालय, 1986– 88

सदस्यता राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समिति :–

- भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण, 1988–91
- झारखण्ड विषयक समिति, भारत सरकार, 1989–95
- साचिव बिरसा विहार,1989 :– 1998
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति पुनर्निरीक्षण समिति 1990
- स्टीयरिंग ग्रुप, योजना आयोग 1996–2000
- विशेषज्ञ समिति, राष्ट्रीय महिला आयोग 1997– 2000
- इंडियन कन्फेडरेशन ऑफ़ इंडीजीनस एंड ट्राइबल पीपुल्स अध्यक्ष 1993–2000
- इंडियन कन्फेडरेशन ऑफ़ इंडीजीनस एंड ट्राइबल पीपुल्स प्रमुख सलाहकार 2000–2001
- सदस्य, सलाहकार समिति अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) 1997–2000

- कार्यकारिणी समिति सदस्य जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय 1990 –1995
- कार्यकारिणी समिति सदस्य नार्थ ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय 1993–1996
- झारखण्ड पीपुल्स पार्टी, अध्यक्ष 1991– 1998
- आदिम जाति सेवा मंडल, अध्यक्ष 1990–2011
- छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ, संरक्षक 1991–2011
- झारखण्ड सांस्कृतिक मोर्चा, अध्यक्ष 1998–2011
- झारखण्ड बुद्धिजीवी मोर्चा 1998
- रांची विश्वविद्यालय पी.जी. टीचर्स एसोसिएशन अध्यक्ष 1998 –2000
- भारतीय साहित्य विकास न्यास सचिव, 1998 :– 2001
- बिनारी इंस्टिट्यूट ऑफ़ रिसर्च स्टडी एंड एक्शन अध्यक्ष 1997–2011
- स्टैंडिंग कमिटी सदस्य यू.जी.सी. 1998–2011
- नेशनल कमिटी फॉर प्रमोशन ऑफ़ सोशल एंड इकनोमिक वेलफेयर 1998 –2001
- एक्सपर्ट कमिटी , साहित्य अकादमी 1999 –2011
- नेशनल काउंसलिंग फॉर टीचर्स एजुकेशन, 2000 :– 2003
- वोर्किंग ग्रुप ओन इम्पावरमेंट ऑफ़ सेड्यूल ट्राइब, योजना आयोग, अध्यक्ष 2000 :– 2005

शोध एवं अध्यापन क्षेत्र : भारतीय भाषा साहित्य, संस्कृति, भारतीय आदिवासी, विश्व आदिवासी आन्दोलन , झारखण्ड आन्दोलन, भारत की जनजातीय समुदाय

समाज सेवा : राज्य सभा सदस्य भारतीय संसद 2010–2011

कृतियाँ : – उनकी विशेष कृतियाँ निम्नलिखित हैं–

गीत : –

- मुंडारी गीत–4 जादुर राग 1966
- हिसिर (गले का हार, आधुनिक मुंडारी गीत), 1967
- सेलेद (मुंडारी, हिंदी एवं नागपुरी गीत), 1967
- बिरसा मुंडा एवं उनके आन्दोलन पर मुंडारी गीत, 1969
- डिस्क्रिपटिव डायलोग सोंग्स इन मुंडारी, 1969
- कुछ नए नागपुरी गीत, 1978
- आदिवासी पहचान पर विभिन्न पत्र :– पत्रिकाओं में आलेख
- झारखंडी जागरण गीत
- पंचपरगना के प्रेम गीत
- मुंडारी छंद
- मुंडारी पोएट्री
- प्र–पंच में लम्बी कविताएँ :– वापसी , परिवर्तन कथन, शालवन के अंतिम शाल और मन्त्र सिद्धि

निबंध :–

- प्रोटो खेरवारिन साउंड सिस्टम , 1967

- आस्पेक्ट्स ऑफ़ मुंडारी वर्ब इन इंडियन लिंग्विस्टिक, 1969
- स्ट्रक्चरल इन्फ्लुएंस ऑफ़ बंगाली वैष्णो सांग्स ऑन ट्रेडिशनल मुंडारी सांग्स, 1970
- मुंडारी गीतकार श्री बुदू बाबु और उनकी रचनाएँ, 1974
- सम फॉर्मल फीचर्स ऑफ़ ट्रेडिशनल मुंडारी पोएट्री, 1976
- ट्राइबल डेवलपमेंट इन झारखण्ड, 1980
- इंडीजिनस एंड ट्राइबल सोलिडरिटी, 1997
- भूरिया कमिटी रिपोर्ट और झारखण्ड क्षेत्र में उनका कार्यान्वयन, 1997
- मुंडारी व्याकरण और शब्दकोष
- झारखण्ड पुनर्निर्माण विकास का मॉडल
- स्टडीज इन ट्राइबल लैंग्वेजेज एंड कल्चर ऑफ़ इंडिया
- रिलिजन और सोसाइटी

अनुवाद :–

- ओसियन ऑफ़ लाफ्टर (हास्यार्नव–संस्कृत नाटक), 1975
- कल्याणी , अंग्रेजी अनुवाद (कल्याणी हिंदी उपन्यास) 1976
- होलीमैन फ्रॉम जमानिया , अंग्रेजी अनुवाद (जमानिया का बाबा,हिंदी उपन्यास)1977
- ध्रुवस्वामिनी , अंग्रेजी अनुवाद (ध्रुवस्वामिनी–हिंदी) 1979
- तितली , अंग्रेजी अनुवाद (तितली–हिंदी)1980
- द सन चेयरिओटियर (रश्मिरथी –हिंदी)1981

- बिरसा मुंडा (बिरसा मुंडा –बंगला)

शोध : स्ट्रक्चरल फीचर्स ऑफ़ द वैष्णो सांग्स ऑफ़ परगना बंगाली, पीएच.डी थीसिस 1975

कहानी उपन्यास : एअ नव कानि को (सात नयी कहानियाँ)

बुय सेंगेल , (जंगल का आग,) अप्रकाशित उपन्यास।

पुस्तक पत्रिका :–

- मुंडारी व्याकरण, 1979
- नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत , 1980
- लैंग्वेज ऑफ़ पोएट्री 1981
- वापसी पुनर्मिलन और अन्य संगीत, 1985
- आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्तित्व के सवाल , 2001
- आदि धरम 2002
- आंडादि बोंगा ,(विवाह मंत्र) 2001
- जी तोनाल (मन बंधन)2002
- जी रानारा (मन बिछुड़न)2001
- एनेओन (जागरण)2002
- बा बोंगा (सरहुल मंत्र)2002
- गोनोए परोम बोंगा (श्रध्दा मंत्र)
- तुकुई लुतुर बोंगा (कर्ण बेधि मंत्र)

अन्य :–

- आजसू का संविधान (प्रमुख योगदान)1986
- मेमोरंडम ऑफ़ झारखण्ड कोर्डिनेशन कमिटी (प्रमुख योगदान)1987
- झारखण्ड वार्ता (डॉ बी.पी. केशरी के साथ)1989
- झारखण्ड पीपुल्स पार्टी का संविधान (सूरज सिंह बेसरा एवं देवशरण भगत के साथ) 1990
- रिपोर्ट ऑफ़ द वर्किंग ग्रुप ऑन एम्पावरमेंट ऑफ़ द शेड्युलड ट्राइब्स डियुरिंग द टेंथ फाइव इयर प्लान 2002

पुरस्कार / सम्मान :–

- 'पद्म श्री' भारत सरकार 31 मार्च 2010
- संगीत नाटक अकादमी भारत सरकार, 2007
- कला संस्कृति एवं युवा कार्य विभाग झारखण्ड सरकार सांस्कृतिक अग्रदूत "लाइफ टाइम अचीवमेंट" 2011 –12
- झारखण्ड रत्न 2008 , लोक सेवा समिति द्वारा
- झारखण्ड गौरव सम्मान , प्रभात खबर द्वारा
- 7वें अखिल भारतीय आदिवासी साहित्य सम्मलेन, नाशिक में सम्मान
- संस्कृति पुरुष
- 1972 वॉलीवाल लीग चैम्पियन
- 1971 –72 वॉलीबाल लीग चैम्पियन ऑफ़ मिनेसोटा

- झारखण्ड महोत्सव 25 जनवरी 2004 नागपुरी कला संगम
- झारखण्ड विभूति छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ एवं विभिन्न सांस्कृतिक संगठनों द्वारा , 2000

- World waterday – 2007 ROE water AID India , Jharkhand
- Post century, golden jubilee celebration , Nov – 2006 Kolkata
- East Zone Inter University youth festival Dec-2008 R.U. Ranchi
- Honour in Doctors Day 2001
- Honour in International festival Films on Arts and Culture I.I.M.C
- Honour by Devraj URS Research Institute & National Law University

- छत्तीसगढ़ मंच अनुसूचित एवं अत्यंत पिछड़े वर्ग के औद्योगिक , व्यावसायिक एवं आर्थिक प्रगति 2002
- दूरदर्शन स्वर्ण जयंती समारोह में
- जनता :–पुलिस मैत्री सम्बन्ध खूंटी 2006
- संत जेवियर कॉलेज द्वारा सम्मान 15 फ़रवरी 2010
- वन महोत्सव 2011 में सम्मान
- झारखण्ड रत्न दैनिक जागरण द्वारा

- भारतीय साहित्य विकास न्यास सम्मान 2006
- हिंदी दिवस समारोह 2006 में सम्मान
- युवा चेतना –2008 विकास भारती विशुनपुर
- नागपुरी समाज सेवा संस्थान , हटिया रांची द्वारा सम्मान ,2003
- डॉ अम्बेडकर राष्ट्रीय अवार्ड , दलित साहित्य अकादमी
- आदिवासी सदान संस्कृति महोत्सव :–एराउज 2001
- आत्म निर्भरता सम्मान स्वदेशी मेला 2007
- शहीद निर्मल महतो ट्रस्ट द्वारा सम्मान 2008
- जन्मशती बुद्धा शिक्षण सर्विसेस (P)LTD

प्रमुख सहभागी :–

- रूस में भारत महोत्सव, 1987
- अंतर्राष्ट्रीय संगीत कार्यशाला , बाली 1988
- एशियाई नृत्य मनीला ,1987
- अंतर्राष्ट्रीय लोककला :–महोत्सव , ताइपेई, 1990
- यूरोप में आदिवासी अभियान , 1993
- यूरोप में दलित अभियान ,1994
- आदिवासी कार्यदल, राष्ट्रसंघ, जेनेवा , 1988–2011

प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मलेन :–

- भारत महोत्सव यू. एस. एस. आर. 1987
- इंटरनेशनल म्यूजिक वर्कशॉप बाली इंडोनेशिया, 1988
- इंटरनेशनल डांस अलायन्स, मनीला , फिलीपिंस 1989
- इंटरनेशनल फोक डांस महोत्सव, ताइपेई,1990
- आदिवासी कैम्पेन इन यूरोप , 1993
- दलित कैम्पेन इन यूरोप , 1994
- इंटरनेशनल कान्फ्रेंस ऑन इंडीजिनस इकोनोमी , कोपेनहेगन डेनमार्क 1997
- यूनाइटेड नेशन वर्किंग ग्रुप ऑन इंडीजिनस पोपुलेशन जेनेवा , 1990
- इंटरनेशनल अलायन्स फॉर इंडीजिनस पीपुल ऑफ़ द ट्रोपिकल फारेस्ट नागपुर , 1998
- एशियन इंडीजिनस पीपुल्स कांफ्रेंस ऑन यू.एन. परमानेंट फोरम ऑन इंडीजिनस पीपुल्स इंदौर , 1999
- इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑन इंडिजिनस पीपुल उपसाला , स्वीडेन 2000
- इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑन हंटिंग एंड गेम्स , बर्लिन 2000
- द यु. एन. परमानेंट फोरम ऑन इंडिजिनस इश्यू, न्यूयार्क 2002

उनका दार्शनिक दृष्टिकोण **'जे नाची से बांची'** (जो नाचेगा वो बचेगा) उनके क्षेत्रीय भाषा के अनुरूप ही है। अपनी संस्कृति व विभिन्न परम्पराओं को बचाने के लिए उन्होंने व्यापक रूप से इस उक्ति का प्रयोग किया है। नाचना सिर्फ नाचने के अर्थ में नहीं है। इसमें छुपी है उनकी सामूहिकता, सामाजिक समरसता तथा बराबरी। उनकी इच्छा थी, कि यह परंपरा गाँव से निकल कर नगरों, स्कूल, कॉलेज, एवं विश्वविद्यालय में भी अनिवार्य रूप से शिक्षा का केंद्र और विषय बने। वर्तमान आदिवासी

युवा पीढ़ी संस्कृति से जुड़े अनुभवों को भूलती जा रही है। उनकी मानसिकता बदल रही है। महानगरों की ओर ज्यादा आकर्षित हो रहे हैं। यूरोपीय संस्कृति से ज्यादा प्रभावित हो रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उनकी यह कोशिश सही दिशा की ओर इंगित करता है।

रोज केरकेट्टा :–

डॉ. रोज केरकेट्टा एक आदिवासी लेखिका हैं जो खड़िया जनजाति के अंतर्गत आते हैं। इनका जन्म 5 दिसंबर 1940 को सिमडेगा के कसीरा सुंदराटोली गाँव में हुआ था। इन्होंने हिंदी में एम. ए. और पीएच. डी. किया है। वे पेशे से शिक्षिका थीं और जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, रांची विश्वविद्यालय रांची में खड़िया की अध्यापिका रहीं। वर्तमान में त्रैमासिक पत्रिका **'आधी दुनिया'** की संपादक हैं। रोज केरकेट्टा उन साहित्यकारों में से हैं जिनकी रचनाओं में विविधता, आधुनिकता और प्रतिरोध का राजनीतिक स्वर है। उनकी कहानियों का महत्वपूर्ण उपलब्धि है उनकी भाषा। उन्होंने अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति की जिस शैली का प्रयोग किया है उसका एक अलग अंदाज और मजा है जिसे झारखण्ड के ग्रामीण जीवन से परिचित पाठक अधिक सहजता से समझ सकते हैं। अगर हम झारखण्ड के गाँव में जाएँ, जंगलों में जाएँ तो हमें उनकी सभी कहानियों के एक–एक पात्र जीवंत दिखाई देते हैं। उनकी कहानियों में झारखण्ड के ग्रामीण परिवेश से गहरा जुड़ाव और स्त्री के हक़ के प्रति उनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

मातृभाषा खड़िया के साथ–साथ हिंदी भाषा साहित्य को समृद्ध बनाने में रोज केरकेट्टा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। डॉ. रोज केरकेट्टा ने झारखण्ड की आदि जिजीविषा समाज के महत्वपूर्ण सवालों को सृजनशील अभिव्यक्ति देने का काम किया है। वे जनांदोलनों को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने तथा संघर्ष की हर राह में आगे रही हैं।

संक्षिप्त जीवन वृत्त :–

जन्म :– 5 दिसंबर 1940 (कसिरा सुंदरा टोली , सिमडेगा)

शिक्षा :– प्रारंभिक शिक्षा कोंडरा (जिला गुमला), खूंटीटोली एवं सिमडेगा (जिला सिमडेगा)

बी. ए. सिमडेगा कॉलेज सिमडेगा, एम.ए. रांची विश्वविद्यालय रांची। पीएच.डी. 'खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर रांची विश्वविद्यालय रांची से ।

शिक्षण कार्य –

- कोलेबिरा लड़बा स्कूल (1966)
- सिमडेगा कॉलेज सिमडेगा (1971 – 72)
- पटेल मोंटेसरी स्कूल, एच.ई.सी.रांची (1975)
- बैजनाथ जालान सिसई कॉलेज (1977 – 1982)
- जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग रांची विश्वविद्यालय रांची(खड़िया की अध्यापिका) 1982 :– दिसम्बर 2000)

कृतियाँ एवं उपलब्धियां :–

- प्रेमचंदाअ लुंड.कोय (प्रेमचंद की कहानियों का खड़िया अनुवाद)
- सिंकोय सुलो' , लोदरो सोमधी (खड़िया कहानी संग्रह)
- हेपड़ अवकडी बेर (खड़िया कविता एवं लोक कथा संग्रह)

- खड़िया निबंध संग्रह
- पुरखा लड़ाके
- खड़िया गद्य पद्य संग्रह
- जुझइर डांड़ (खड़िया नाटक संग्रह)
- पगहा जोरी जोरी रे घाटो (हिंदी कहानी संग्रह)
- बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ (हिंदी कहानी संग्रह)
- सेंभो रो डकई (खड़िया लोक गाथा)
- खड़िया विश्वास के मंत्र (सम्पादित) एवं अबसिब मुरडअ (खड़िया कविताएँ)
- विगत कई वर्षों से त्रैमासिक पत्रिका का संपादन ।

सम्मान /पुरस्कार :–

- जन जागरण रांची द्वारा
- प्रभात खबर रांची द्वारा
- मिसी संस्था बेड़ो (रांची) द्वारा
- फैमिली काउंसलिंग सेंटर बोकारो द्वारा
- अग्रवाल महिला सभा द्वारा
- एन.एस.एस. रांची विश्वविद्यालय स्नातकोतर विभाग रांची द्वारा
- ओल असम खड़िया महासभा असम द्वारा

- मध्यप्रदेश सरकार द्वारा वीरांगना रानी दुर्गावती राष्ट्रीय सम्मान 2008

डॉ रोज केरकेट्टा 'आदिवासी' 'छोटानागपुर सन्देश' 'शालपत्र' 'युद्धरत आम आदमी' 'चौमासा' और 'जोहार' तथा विभिन्न अख़बारों में लगातार लेखन करती रहीं। वे 'देशज स्वर' और 'सहयात्री' पत्रिका के परामर्श मंडल की सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र :– पत्रिकाओं, समाचार पत्रों, दूरदर्शन एवं आकाशवाणी, रांची व दिल्ली से अनेक कहानियां, कविताएँ और आलेखों का प्रसारण। फिलहाल जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, रांची विश्वविद्यालय रांची से सेवानिवृति के बाद स्वतंत्र लेखन एवं विभिन नागरिक संगठनों में सक्रिय भागीदारी हैं।

मंगल सिंह मुंडा :–

आदिवासी कथाकार मंगल सिंह मुंडा, मुंडा जनजाति के अंतर्गत आते हैं। उनका जन्म रंगरोंग खूंटी में हुआ था। इन्होंने बी.ए. तक की पढ़ाई करने के बाद भारत सरकार के रेलवे विभाग में नौकरी की । यह तो उनका बड़प्पन है कि नौकरी करते हुए हिंदी साहित्य में कहानियाँ और उपन्यास लिखने के बावजूद वे कहते हैं **–यह मेरा कतई दावा नहीं कि मैं लेखक बन गया हूँ। लेखक बनना निश्चय ही एक जटिल प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया जन्मजात प्रतिभा के साथ–साथ लगन धैर्य तथा आर्थिक सम्पन्नता की भी मांग करता है। अतः इस सन्दर्भ में इसे एक प्रयोग ही मानता हूँ।**[3]

उनकी कहानियाँ समयानुकूल हैं। उन्होंने अपने कहानियों के माध्यम से समाज के नग्न और कठोर सत्य को बड़े ही खुले और स्पष्ट ढंग से उजागर करने का प्रयत्न किया है। अपने पात्रों के माध्यम से बड़े ही सहज भाव से समाज में फैली विकृतियों को पाठकों के सामने खींच लाने का प्रयत्न किया है।

महत्वपूर्ण कृतियाँ :–

- छैला संदु (हिंदी उपन्यास)

- महुवा का फूल (हिंदी कहानी संग्रह)
- कामिनाला (काम की खोज में, मुंडारी नाटक)
- रंगा चौडल रेन पुतुल (मुंडारी उपन्यास)
- हडद सुकू (तीता लौकी , मुंडारी :–हिंदी कहानी संग्रह)
- दुरंग को कोरे अड़ जाना ? (गीत कहाँ खो गए , मुंडारी हिंदी लघु कथा संग्रह)

उन्होंने हिंदी और मुंडारी दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं। छैला संदू उपन्यास मुंडा समाज की सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक जीवन के यथार्थ का आइना है। उनकी लेखनी से उनकी रसिकता का भी आभास होता है। प्रेम को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं :– **मानव समाज में नारी का जन्म ही श्रृंगार रस के अणुओं से हुआ है। इन अणुओं को अपनी अपनी कोख में पीला पोसने का हर नारी को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझना चाहिए तथा इसके लिए हर न्यायोचित हक़ मांगनी चाहिए। यही नहीं इस सबकी प्राप्ति के रास्ते पर जाति धर्म , वर्ग सम्प्रदाय , सामाजिक कानून कायदे कुछ भी आड़े नहीं आने चाहिए।**[4]

2005 में दक्षिण पूर्व रेलवे गार्डनरीच कोलकाता से सुपरवाईजर पद से अवकाश प्राप्त करने के बाद फिलहाल वे फिल्म पटकथा एवं स्वतंत्र लेखन करते हुए अपने समाज के लोगों के साथ जुड़े हुए हैं।

पीटर पॉल एक्का :–

डॉ. पीटर पॉल एक्का उरांव जनजाति के अंतर्गत आते हैं। उनका जन्म सामटोली सिमडेगा में हुआ। 1973 में उन्होंने **'सोसाइटी ऑफ़ जेसुइट्स'** ज्वाइन किया तथा 1987 में पावन पुरोहिताभिषेक हुआ। एक धर्म संघी होने के कारण वे रेव. फादर डॉ. पीटर पॉल एक्का के नाम से भी जाने जाते हैं। उनकी प्रारंभिक शिक्षा सेंट मेरिज़ हाई स्कूल सामटोली तथा सेंट इग्नासियुस हाई स्कूल गुमला में हुई। बी.ए.

कोलकाता यूनिवर्सिटी तथा बी.एससी. सेंट जेवियर्स कॉलेज, रांची यूनिवर्सिटी रांची से तथा एम.एससी. की पढ़ाई उन्होंने लोयोला कॉलेज चेन्नई से की। दर्शन की पढ़ाई डे नोबिली कॉलेज पुणे तथा थेयोलोजी विद्या ज्योति दिल्ली से की। मार्केट यूनिवर्सिटी यू. एस.ए. के अन्दर रसायन शास्त्र में एडवांस कोर्स की। पीएच.डी. उन्होंने रांची यूनिवर्सिटी रांची से की।

हिंदी साहित्य के कालजयी रचनाकार प्रेमचंद को वे अपना प्रेरक मानते हैं। उनके तमाम उपन्यासों व कहानियों को हाई स्कूल की पढ़ाई करने के दौरान ही बड़ी शिद्दत के साथ पढ़ता चला गया और उन्हीं दिनों से वे लघु कथाएँ लिखनी शुरू कर दी थी।

शिक्षण कार्य :–

उन्होंने जनवरी 1989 में रसायन शास्त्र में अध्यापन शुरू किया तथा रसायन शास्त्र में ही संत जवियर्स कॉलेज रांची में प्रोफेसर हो गए। रसायन शास्त्र विभाग में विभागाध्यक्ष होने के साथ–साथ वाईस प्रिंसिपल तथा रजिस्ट्रार के रूप में कॉलेज प्रशासन को महत्त्वपूर्ण अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं।

कृतियाँ :–

1.लघु कहानियाँ संग्रह :–

- खुला आसमान बंद दिशाएँ
- परती जमीन
- क्षितिज की तलाश में
- राजकुमारों के देश में

2. उपन्यास :–

- पलास के फूल
- सोन पहाड़ी
- मौन घाटी
- जंगल के गीत

स्मृतियाँ :–

- लूर गोमके

सम्मान/पुरस्कार :–

1. India International Friendship society

- शिक्षा रत्न अवार्ड, दिल्ली (20th Oct 2011)
- इंदिरा गाँधी शिरोमणि अवार्ड, दिल्ली (17th Dec 2011)
- ग्लोरी ऑफ़ इंडिया अवार्ड दुबई (18th Nov 2011)

2. International Publishing House

- बेस्ट सिटिजन ऑफ़ इंडिया (2011)

3. International Institute of Education and Management

- विजय रत्न गोल्ड मेडल (2016)

4. International Business Council

- स्टार ऑफ़ एशिया (2016)

इतनी व्यस्तताओं के बावजूद अपने विशेषज्ञता से इतर इस तरह से लिखना और लगातार लिखते रहना बहुत कम लोगों में पाया जाता है। वे अपने कार्यों को लेकर बहुत सख्त थे। सेंट जेवियर्स कॉलेज में पढ़ाई करने के दौरान उनकी छवि जिस प्रकार से हम विद्यार्थियों के मन में बैठी थी उससे यह कतई अंदाजा नहीं था कि वे युवाओं, आदिवासियों, किसानों या अपने आदिवासी समाज के बारे में इतनी गहराई से सकारात्मक सोच रखते हैं, किन्तु उनके प्रति जैसे हमने सोच रखा था उससे बिल्कुल अलग सहज स्वभाव वाले डॉ. पीटर पॉल एक्का एक आदिवासी लेखक के रूप में खड़े हैं। उनकी रचनाओं में देश के विभिन्न राज्यों में हुए पलायन तथा विस्थापित आदिवासियों के संघर्षों का मार्मिक चित्रण है। हिंदी साहित्य में वे आदिवासी लेखक के रूप में अपनी पहचान बना चुके हैं। आज देश के जाने माने विश्वविद्यालयों में उनकी रचनाओं पर शोध कार्य चल रहे हैं।

वाल्टर भेंगरा 'तरुण':–

वाल्टर भेंगरा तरुण मुंडा जनजाति के एक आदिवासी लेखक हैं। उनका जन्म 10 मई 1947 ई. को अमृतपुर खूंटी में हुआ था।

जीवन के प्रारंभिक काल से ही वे विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखते रहे। वे आज भी पत्रकारिता से जुड़े हुए हैं। **'लौटते हुए'** पलायन पर आधरित एक समस्या प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन 2005 में हुआ। इस

उपन्यास को उन्होंने अस्सी के दशक में ही लिखना आरम्भ किया था जब वे किसी पत्रिका का संपादन कर रहे थे। इस उपन्यास को पुस्तक के रूप में आने में लगभग 24 वर्ष का समय लगा। इससे स्पष्ट है कि अपनी लेखनी के माध्यम से अपने समाज को जागरूक करने की लालसा इनमें कूट–कूट कर भरी हुई है।

कृतियाँ :–

- अपना अपना युद्ध(कहानी संग्रह)
- जंगल की ललकार (कहानी संग्रह)
- लौटती रेखाएं (कहानी संग्रह)
- देने का सुख (कहानी संग्रह)
- लौटते हुए (उपन्यास)
- तलाश (उपन्यास)
- गंग लीडर और कच्ची कली (उपन्यास)

वाल्टर भेंगरा तरुण ने अपनी कहानी व उपन्यासों में, समाज में व्याप्त ज्वलंत समस्याओं को आधार बिंदु बनाकर अधिकतर रचनाएँ की हैं। उनके कहानियों का परिवेश ज्यादातर अत्यंत सुविधा विहीन ग्रामीण क्षेत्रों में गढ़ा गया है। उनको पढ़ते हुए बड़ी आसानी से वह झांकी झलकने लगती है जो आदिवासी समाज का वास्तविक रूप है। **अपना अपना युद्ध** कहानी संग्रह के लिए वे अपनी बात रखते हुए कहते हैं – **आज प्रत्येक व्यक्ति अपना कोई न कोई युद्ध लड़ रहा है। कोई महंगाई से, कोई बेरोजगारी से, कोई कुव्यवस्था से तो कोई अपने आप से लड़ाई लड़ रहा है।**[5]

सेंट जवियर्स कॉलेज रांची तथा दूरदर्शन से सेवानिवृति के बाद वे स्वतंत्र रूप से लेखन कार्य तथा आदिवासी हितों से सम्बंधित विभिन्न कार्यों या कार्यक्रमों में अपना पूर्ण योगदान दे रहे हैं।

रूपलाल बेदिया :–

रूपलाल बेदिया, बेदिया जनजाति के अंतर्गत आते हैं। उनका जन्म 2 अप्रैल 1965 में रांची जिले के ओरमांझी प्रखंड अंतर्गत केरम गाँव में हुआ था। यह इलाका बेदिया जनजातियों का बहुल क्षेत्र रहा है। उनकी पारिवारिक आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उनके पिता एक गरीब किसान थे जिससे आर्थिक तंगी हमेशा बनी रहती थी। विभिन्न परिस्थितियों से घिरे रहने के बावजूद वे अपनी पढ़ाई नहीं छोड़े और संघर्ष करते रहे।

उनकी प्रारंभिक पढ़ाई अपने गाँव से करीब डेढ़ किलोमीटर दूर 'टुंडाहुली' गाँव में हुई तदुपरान्त सातवीं तक की शिक्षा अपने गाँव से पाँच किलोमीटर दूर 'कुच्चू' गाँव में तथा हाई स्कूल की शिक्षा सयाल हाई स्कूल, सयाल, रामगढ़ (तत्कालीन हजारीबाग जिला) से 1982 में हुई। स्नातक (वाणिज्य) गोस्सनर कॉलेज (राँची विश्वविद्यालय) से 1987 में। बी.कॉम. तक की पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्हें भारत सरकार के इंडियन रेलवे में सेवा करने का मौका मिला इसके साथ ही साथ वे एक लेखक के रूप में भी जाने जाते हैं। फिलहाल हिंदी साहित्य में एक कहानीकार के रूप में उन्हें काफी प्रसिद्धि मिली है।

लेखन/सृजन :–

हाई स्कूल व कॉलेज के समय नागपुरी में गीत लेखन। बाद में अख़बारों में कुछ टिप्पणियाँ तथा गृह पत्रिकाओं में छिटपुट कहानी/कविता का प्रकाशन। किसी स्तरीय पत्रिका (परिकथा) में पहली बार कहानी 'आया माँ' 2007 में प्रकाशन। अब तक विभिन्न पत्रिकाओं में 28 कहानियाँ प्रकाशित। पहला कहानी संग्रह

'शून्य में अटके परिन्दे' 2012 में प्रकाशित। नई धारा (पटना) के सम्पादक शिवनारायण द्वारा सम्पादित पुस्तक 'वृद्ध जीवन की कहानियाँ' तथा वरिष्ठ कहानीकार वासुदेव द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कथा में झारखण्ड' में एक–एक कहानी संकलित।

शून्य में अटके परिंदे बेदिया जी की पहली कहानी संग्रह है, जिसका प्रथम संस्करण 2012 है जो 15 कहानियों का संग्रह है। इससे पहले उनकी लगभग बीस कहानियाँ विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में छप चुकी थी। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ भी पहले ही कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने समाज में फैली विद्रूपताओं से उपजी पीड़ा का सार्थक प्रस्तुतीकरण अपने कहानियों में किया है।

साहित्य और साहित्यिक पृष्ठभूमि से लेखक का कोई वास्ता नहीं रहा है किन्तु लिखने की प्रतिभा उनमें शुरू से ही रही है। आज के दिन में वे नौकरी करते हुए अपना लेखन कार्य जारी रखे हुए हैं और एक कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बना लिए हैं।

इन साहित्यकारों को शायद उनकी सामाजिक परिवेश ही उन्हें लिखने को मजबूर करती है। यहाँ अधिकांश लेखकों का साहित्य से कोई वास्ता नहीं रहा है, फिर भी लिखने की प्रतिभा शुरू से ही रही है। धीरे–धीरे अब वे हिंदी साहित्य में मजबूती से अपनी पहचान बना रहे हैं। वर्तमान में इन साहित्याकारों के बिना आदिवासी साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

सन्दर्भ :–

[1]एलिस एक्का की कहानियाँ ,संपादक , वंदना टेटे , पृष्ठ –9

[2]डहर (पत्रिका) , संपादक डॉ.गिरिधारी राम गौंझू , पृष्ठ –22

[3]महुआ का फूल , मंगल सिंह मुंडा , मुखपृष्ठ

[4]छैला संदु , मंगल सिंह मुंडा ,पृष्ठ –42

[5]अपना अपना युद्ध, वाल्टर भेंगरा तरुण, मुखपृष्ठ

व्यक्तिगत सम्पर्क :–

- डॉ. पीटर पॉल एक्का
- रूपलाल बेदिया

सहायक सन्दर्भ :–

- डहर (पत्रिका), संपादक डॉ.विसेश्वर प्रसाद केशरी, डॉ. गिरिधारी राम गौन्झू, छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ , डोरंडा रांची ,2013
- लौटते हुए ,वाल्टर भेंगरा तरुण , सत्य भारती प्रकाशन , रांची 2005
- शून्य में अटके परिंदे , रूपलाल बेदिया , अयन प्रकाशन , नई दिल्ली , 2012
- मंगल सिंह मुंडा, महुआ का फूल, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली 1998 ई. ।
- मंगल सिंह मुंडा, हड़द सुकु (तीता लौकी) झारखण्ड झरोखा रांची, 2013 ई. ।
- मंगल सिंह मुंडा, दुरंग को कोरे अद जना ? (गीत कहाँ खो गये) झारखण्ड झरोखा रांची, 2013 ई ।
- मंगल सिंह मुंडा, छैला सन्दु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 ई. ।
- पीटर पॉल एक्का, मौनघाटी, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, 1982 ई. ।
- पीटर पॉल एक्का, पलास के फूल,सोन पहाड़ी, सत्य भारती प्रकाशन 2012 ई. ।

- पीटर पॉल एक्का, जंगल के गीत, सत्य भारती प्रकाशन, रांची 1999 ई. ।
- पीटर पॉल एक्का,क्षितिज की तलाश में, सत्य भारती प्रकाशन रांची 2011 ई. ।
- पीटर पॉल एक्का,राजकुमारों के देश में, सत्य भारती प्रकाशन, रांची ।
- रामदयाल मुंडा, 'ए' अ नव कानिको (सात नई कहानियां) सरस्वती प्रेस, उदयपुर राजस्थान, 1980 ई ।
- रोज केरकेट्टा, पगहा जोरी–जोरी रे घाटो, देशज प्रकाशन रांची, 2009 ई. ।

अध्याय तीन

झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासियों की सामाजिक सांस्कृतिक विशिष्टताएँ :–

आदिवासियों का निवास स्थान, उनका गाँव घर , खेत खलिहान शहरी कोलाहल से दूर प्राकृतिक संसाधनों तथा पहाड़ियों से घिरा जंगलों के बीच होता था, जहाँ आदिवासियों का अपना संसार हुआ करता था और कहीं–कहीं अब भी है। इन दुर्गम इलाकों में रहने के कारण इनकी सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताएँ कुछ अलग; किन्तु अपनी थी। जहाँ पर रहकर वे कल की चिंता किये बिना सुख चैन की जिंदगी गुजारते थे, आदिवासियों का वह इलाका स्वर्ग के समान हुआ करता था। जीविका तथा चिकित्सा के लिए पूरा का पूरा जंगल उनके सामने था। शिक्षा के लिए स्कूल नहीं बल्कि अखड़ा, धुमकुड़िया, पेल्लोएड़पा तथा घोटुल होता था।

वर्तमान में आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताएँ सिर्फ कथाओं में ही जीवित हैं। उनके सामने सांस्कृतिक संकट आ खड़ा हुआ है। पहाड़ी अंचल तथा जंगल तो उनसे छीन ही गया तथा साथ में उनका घोटुल जीवन भी उनसे छीन लिया गया। घोटुल आदिवासियों के जीवन का महत्वपूर्ण अंग होता था। दिन भर काम करने के बाद गाँव के युवा लड़के–लड़कियाँ खाने के बाद वहीं इकट्ठा होते थे। देर रात तक नाच गान करना उनके जीवन का अंग था। अपने जीवन की शिक्षाएं उन्हें वहीं मिलती थी। घोटुल व धुमकुड़िया में युवक–युवतियों के बीच विभिन्न कथा–कहानियों के साथ–साथ पहेलियों का सिलसिला भी देर रात तक चलता था। उनकी पहेलियाँ उनके मनोरंजन का अंग होता था। युवक–युवतियों का अलग–अलग दल होता था जहाँ पर वे पहेली के माध्यम से एक दूसरे की टांग खींचते थे। उनके कुछ पहेलियों का उदाहरण पीटर पॉल एक्का ने अपने उपन्यास जंगल के गीत में दिया है –

- **ओंटा दरंगा नू बूट कुम्बा – एन्द्रा हके तेंगा** ?[1]

  (एक पहाड़ी घाटी में चना पहरा करने का एक कुम्बा –क्या है ?)

  उत्तर – नाक

- **ओंटा छैलाही पेलो ही भेद तरा दूधही – तेंगा** ?[2]
- (एक सुन्दर लड़की की पीठ तरफ दूध –बताओ ?)

  उत्तर – केंतेर (सूप)

- **गिरल पैना बिछ्दा नहीं , फूल दोह्ड़ी तोडब नहीं , लादल बैल खेदब नहीं – एंदरा हे के** ?[3]

  (गिरा हुआ पैना नहीं उठाएंगे, खिला हुआ फूल नहीं तोड़ेंगे और भार लदा बैल नहीं हांकेंगे। बताओ कौन है ?)

  उत्तर – नेर्र चंदो और लकड़ा। (सांप, चाँद और बाघ)

- **ओंटा मन्न नू ढेला दीम ढेला – एंदरा हे के** ?[4]

  (एक पेड़ पर ढेला ही ढेला – क्या है ?)

  उत्तर – खोट्टा (बेल)

इस तरह से कई ऐसे पहेलियाँ हैं जिनको लेकर धुमकुड़िया के युवक–युवतियां आपस में प्रतियोगिता के रूप में खेलते थे। वे घोटुल में स्वतंत्र रूप से एक दूसरे के साथ हास परिहास करते तथा अपनी इच्छा अनुसार किसी के साथ भी सोते और उठते बैठते थे। यहाँ पर किसी तरह का कोई बंधन नहीं था। पीटर पॉल एक्का की कहानी '**अनछुई परछाइयाँ**' इसी तरह की कहानी है। इस कहानी में आदिवासी इलाके में कदम रखते ही बाहरी घुसपैठी अपनी वर्चस्ववादी नीति अपनाते हैं। उन्हें आदिवासियों के घोटुल जैसी संस्कृति को देखकर विचित्र लगा होगा, अपनी संकीर्ण दृष्टि के कारण अनैतिक लगी होगी क्योंकि आदिवासी समाज को छोड़ किसी

दूसरे समाज में ऐसी संस्कृति देखने को नहीं मिलती इसलिए उन्होंने यह फरमान जारी कर दिया कि सरकार का हुक्म है कि इस घोटुल में अब लोगों को आधुनिक स्कूली शिक्षा दी जायगी क्योंकि उन्हें अपने बच्चों के लिए स्कूल की आवश्यकता थी। इस प्रकार आदिवासियों का वह घोटुल स्कूल में तब्दील हो जाता है। इसी संकट का आभास पाकर ही डॉ. रामदयाल मुंडा हमेशा कहा करते थे– '**जे नाची से बांची**'।

आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताओं की बात कही जाए तो स्पष्ट है सबसे पहले आता है उनकी– भाषा–शैली। भाषा–शैली ही इन साहित्यकारों को एक गैर आदिवासी साहित्यकारों से अलग करती है। भाषा शैली के साथ–साथ सामाजिक परिवेश सभी की रचनाओं में झलकता है। सामाजिक परिवेश ही एक ऐसी चीज है जो एक साधारण व्यक्ति को लेखक बना देता है। अपने इर्द–गिर्द घटने वाली विभिन्न छोटी–बड़ी परिस्थितियों के कारण लेखक के मन में एक प्रकार से आक्रोश पैदा होता है जिसके कारण वे अपने मन की कुलबुलाहट को लेखनी के माध्यम से पन्नों पर उतारने में सक्षम हो पाते हैं। इनकी रचनाओं में विभिन्न त्योहारों के साथ–साथ प्रेम भी है तो कहीं–कहीं धार्मिकता का प्रभाव भी है।

हिंदी और भारतीय भाषाओं में आदिवासियों को लेकर जो रचनाएँ रची जा रही है उनमें से अधिकांश के लेखक गैर आदिवासी हैं। इस अध्याय में उन्हीं लेखकों की चर्चा है जो खुद आदिवासी हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी कहानियाँ या उपन्यास कल्पना प्रधान नहीं बल्कि गाँव में भोगे हुए उस समाज को लिखा गया है। रचनाएँ समस्या प्रधान है तो समस्याओं से निबटने के लिए उनका संघर्ष भी है। इनकी रचनाओं में प्रकृति सहज रूप में उपस्थित है। जैसे रोज केरकेट्टा की कहानियों पर गौर करें तो इनको किन्हीं शब्दकोशों का सहारा नहीं लेना पड़ा है बल्कि इनकी कहानियों को आस–पास के प्रकृति ने ही सुट्टढ़ कर दिया है। महुआ, पलाश, सेमल, कपास आदि का सघन वनस्पति जगत, मैना, बाघ, खरगोश साही, भालू, सियार जैसे जीव सहवासी के तौर पर कहानियों में आवाजाही करते हैं। वैसे ही अन्य साहित्यकारों को भी शब्दकोशों का सहारा नहीं लेना पड़ा है।

अपनी सरल भाषा में लिखी गई रचनाओं में अपने क्षेत्र विशेष का प्रभाव स्पष्ट झलकता है जैसे मंगल सिंह मुंडा , वाल्टर भेंगरा तरुण तथा रामदयाल मुंडा जी की रचनाओं में मुंडारी भाषा तथा मुंडा इलाका कहानी के इर्द गिर्द घूमती रहती है वैसे ही रोज केरकेट्टा और पीटर पॉल एक्का की रचनाओं में झारखण्ड के सिमडेगा क्षेत्र का सहज अहसास कराता है।

चूँकि आदिवासी कहने से ही स्पष्ट होता है– जल, जंगल और जमीन। वनों और वनवासियों का रिश्ता वैसा ही होता है जैसे माँ और बेटे का होता है। अगर बेटे को माँ से अलग कर दिया जाय या माँ को बेटे से अलग कर दिया जाए तो दोनों के साथ अन्याय ही होगा। वर्तमान दौर में आदिवासियों के साथ यही हो रहा है। किसी न किसी प्रकार से उन्हें उनके ही जमीन और जंगलों से बेदखल किया जा रहा है। उनकी जीविका का साधन उनसे छीना जा रहा है। ऐसे में उनके सामने कर्ज लेकर जीविका चलने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं बचता। यही कर्ज उनके शोषण की वजह बनता है और उस कर्ज से वे कभी उबर नहीं पाते।

आदिवासियों का जंगलों से गहरा से गहरा रिश्ता रहा है। आदिवासियों का जंगल–जंगल के साथ जो रिश्ता रहा है वह उनकी संस्कृति तथा जीवन का महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि जंगल उनके जीविका का साधन ही नहीं बल्कि हारी–बीमारी के समय इलाज में आने वाले विभिन्न जड़ी बूटियाँ उन्हें जंगलों से ही प्राप्त होते हैं। अर्थात रचनाओं में जंगलों का आना उनकी आदिवासियत की विशेषता है। पीटर पॉल एक्का ने जंगलों पर '**जंगल के गीत**' उपन्यास लिखा तो वाल्टर भेंगरा तरुण का '**जंगल की ललकार**' कहानियों का संग्रह है। जंगल के गीत उपन्यास के माध्यम से लेखक ने आदिवासियों के मुख्य प्रकृति पर्व करमा, सरहुल एवं उनके विभिन्न रीति–रिवाजों का वर्णन किया है। साथ ही आदिवासियों के मुख्य जनांदोलनों का भी वर्णन किया है। उलगुलान अर्थात आदिवासियों की जमीन, खेत खलिहान, पहाड़ पर्वत को उनसे छीनने वालों के विरुद्ध लड़ाई। वे इस मिशन में सफल भी रहे। यह उनकी मेहनत, लगन, और परिश्रम का ही नतीजा था कि सब कुछ बदल जाने के बाद भी पहाड़ियों पर बसे उन गाँव का दिल वही था, उनके जीवन में रचे बसे उन बेहिसाब

गीतों के बोल वही थे, वही भावना थी वही स्पंदन था। **जंगल की ललकार** में उजड़ते हुए जंगलों को खुद जंगल ही कैसे ललकार रहे हैं यह सहज ही देखने को मिलता है। इस कहानी में मुंडा जनजातियों का जगलों पर उनके अधिकार और अधिकार छीने जाने के बाद का संघर्ष है। जंगलों पर सरकार का अधिकार आ जाने के बाद वहां के आदिवासी समुदाय कैसे जंगलों से वंचित रहते हैं उसका दुखद चित्रण लेखक ने इस कहानी में किया है। जिस जंगल से उनकी सदियों से जीविका चल रही थी वही जंगल आज इन्हें जेल पहुँचा रही हैं तो दर–दर की ठोकरें खाने को मजबूर कर रही है। उन्हें दतुवन, पत्ते तथा जलावन के लिए लकड़ी तक नसीब नहीं। हालाँकि लकड़ियाँ उनसे भी तेज गति से काटे जा रहे हैं। इस पर लेखक कहते हैं– "**वैसे सभी को पता है जंगल की मोटी लकड़ियाँ और पेड़ काटकर कौन ले जाता है। शहर से शम्भू सेठ ट्रक लेकर आता है और रातों रात उस पर लकड़ी लादकर वापस चला जाता है। उस समय कोई फॉरेस्ट गार्ड जंगल में नहीं आता। लेकिन जब गाँव के लोग जलावन के लिए लकड़ियाँ काटते हैं तो वह चावल दाल से लेकर मुर्गा और पैसे भी वसूल लेता है**।"[5] रोज केरकेट्टा की कहानियों में गेंठी कंदा का जिक्र कई बार हुआ है। यह एक जंगली कंद है आदिवासियों के एक मौसम का जीने का सहारा। कैसे औरतें सुबह होते ही अपना दो–दो, तीन–तीन का ग्रुप बनाकर जंगली कंदमूल फल–फूल की खोज में निकल पड़ते हैं। इस सुन्दर रमणीय समाज का चित्रण इस गीत के माध्यम से भी आसानी से समझा जा सकता है इस गीत को हमने खुद कभी अपने ग्रुप के साथ तैयार किया था गीत के बोल हमारे हैं किन्तु धुन चुराए गए थे। गीत सादरी में है लेकिन बहुत हद तक समझा जा सकता है –

'हमर गाँव तो

बन पतरा नदी नाला

माझे आहे रे

ई सुन्दर ठाँव में ,

गाँव कर मनवा मन

बहुत खुश रहेना

1• गाँव कर मनवा मन

काठी बेचीं बेचीं भला पेट भरेना

ओहरे मोर गाँव कर

का दशा भेलक दइया रे

2• गाँव कर मनवा मन

केंद डुमइर खायक लागिन बन जायना

डुमइर के खाते खाते देइख देलांय भालू के

भाइग देलांय घर दइया रे'

(हमारा गाँव वन जंगल, नदी नालों के बीच में है , इस सुन्दर जगह में , गाँव के लोग बहुत खुश रहते हैं। 1. गाँव के लोग लकड़ी बेच बेच कर अपना पेट भरते हैं उफ मेरे गाँव की क्या दशा हो गई है। 2.गाँव के लोग केंद गुलर खाने के लिए जंगल जाते हैं। गुलर खाते–खाते भालू दिख जाता है और फिर वे घर वापस चले जाते हैं।) भालू का जिक्र इसलिए हुआ है क्योंकि गुलर भालू का भी प्रिय भोजन में से एक है।

खोज खाने की परम्परा आदिवासियों की प्रवृत्ति रही है। इसमें गेंठी कंदा सबसे अच्छा माना जाता है क्योंकि इसे खाने से काफी देर तक पेट भरा रहता है तथा स्वस्थ के लिए भी अच्छा होता है। कैसे एक बार में अधिक से अधिक बार का खाना इकट्ठा करने के उद्देश्य से घर से औरतें निकलती हैं और अगर अच्छा हाथ लग गया तो ऐसा हो भी जाता है एक ही स्थान पर उनका टोकरी भी भर जाता है। किन्तु यह इतना आसान नहीं है गेंठी कंदा घने जंगलों पहाड़ों के बीच में ही मिलते हैं जहाँ पर उन्हें जंगली जानवरों का सामना करना भी पड़ सकता है। इस सन्दर्भ में रोज जी का एक दर्दनाक दृष्टान्त – **'पूरे गाँव को पता था कि इन दिनों पहाड़ी पर बाघ आया हुआ है । घर के किसी ने साथ नहीं दिया तो दीदी निमी ने गाँव की**

गोतनी को जंगल जाने के लिए मना लिया। वे दोनों टोकरी और खंती लेकर पहाड़ी की ओर चली गयीं। निमी सीधे पहाड़ी पर थोड़ी दूर चढ़ गई गोतनी नीचे ही रही। उस दिन गेंठी का कंदा भी बड़ा–बड़ा मिलने लगा। तभी एकाएक बन्दर चीखने लगे। पेंघा पक्षियों का कलरव सुने देने लगा। पहाड़ी से नीचे की ओर पत्थर लुढ़कने लगे। गोतनी डर गई। सर उठाकर देखा बाघ उन्हीं की ओर आ रहा था। उसने दीदी को आवाज दी। लेकिन दीदी –रुको बड़ा–बड़ा मिल रहा है कहती रही। बाघ नीचे उतरा। नीमी की कमर को पकड़ा और ऊपर ले जाने लगा। दीदी घिघियाती रही–बाघ को खंती से मारो न ....।'[6]

हाट बाजार का यदि चित्रण न हो तो आदिवासी समाज का वर्णन अधूरा रह जायगा। जंगलों से इकठ्ठा किये गए वनोपजों को बेचने साथ ही आदिवासियों का खाता के नाम से विख्यात मुर्गे बकरे को बेचने का एकमात्र ठिकाना आस पास का साप्ताहिक बाजार ही हुआ करता था इसलिए साप्ताहिक बाजार का जिक्र होना स्वाभाविक है। बाजार में मोल मोलाई से लेकर सेठ साहूकारों, दलालों के हाथों ठगना–ठगाना उनके जीवन का अंग है। स्थिति ऐसी कि सबकुछ जानने समझने के बावजूद उनके झांसे में आना आम बात है क्योंकि अगर वे इससे मुकरते तो शाम को भूखे पेट ही सोना पड़ता। इसका अंदाजा मंगल सिंह मुंडा कृत 'धोखा' शीर्षक कहानी से लगाया जा सकता है – "**सच कहता हूँ साब , किसी जमाने में एक दोना जामुन या क्योंद और एक ईंट का दाम समान था। आज इस महंगे जमाने में एक ईंट का दाम 2 रूपये तक पड़ने लगा है। पर उधर देखो कोई शहरी बाबु अभी भी मात्र चार आने में ही उठा के ले जाता है उनके दोने। सस्ते में क्यों न बेचें ? ऐसा न होने पर घरों में चूल्हा ही न जले इनके।"**[7]

अतिथि का मतलब हम सब जानते ही हैं। बिना दिन तारीख निश्चित किये रिश्तेदारों का घर में आगमन ही शायद अतिथि कहलाता है। आदिवासी समाज में सिर्फ परिचितों का ही आना अतिथि नहीं कहलाता है। साल के कुछ महीनों जैसे गर्मी बरसात या वार्षिक मेले के अवसरों पर, ऐसे गाँव जो साप्ताहिक बाजार के रास्ते पड़ते हों, नदियों के किनारे बसे हों या फिर वार्षिक मेले लगने वाले

विशेष स्थान के आस–पास बसे हों, वहां के लोग उस महीने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं कि कभी भी कोई भी आ सकता है। उन आगंतुकों का आवभगत वे वैसे ही करते हैं जैसे उनका कोई चिर परिचित हों। जैसे साप्ताहिक बाजार के रास्ते पड़ने वाले गाँव गर्मियों में, और दिनों की अपेक्षा ज्यादा पानी भरकर रखते हैं उन्हें पता है कि आज बाजार है तो कोई भी '**बजरियर**'(बाजार करने गये कोई भी व्यक्ति) आ सकता है और इसके लिए वे तैयार रहते हैं और ऐसा होता ही था कोई भी घुस कर पानी की मांग करता या बासी पानी (बचा चावल जो एक दो दिन से पानी में भिगोगर रखा जाता है जो हल्का खट्टा होता है) की मांग करता है। ऐसे ही बारिश होने पर **'बच लेते हैं'** के उद्देश्य से किसी के घर घुस जाते हैं और रुकने की स्थिति में बैठे–बैठे घर वालों से बिना किसी हिचकिचाहट के बोला जाता है कि मेरे लिए यहीं पर कोई फटा–चिटा चटाई बिछा दो अब हम सुबह ही जाएँगे। अब माहौल बिलकुल बदल गया है ये अलग बात है किन्तु ऐसी खूबसूरत संस्कृति को अपनी रचनाओं के माध्यम से बचा कर रखना बड़ी उपलब्धि है। रोज केरकेट्टा की कहानियों में हम देखते हैं कि बरसात बहुत है। कई कहानियों में बहुत बारिश होती है, मुसलाधार बारिश होती है और झारखण्ड का दृश्य सजीव हो जाता है। जब बरसात में रास्ते बंद हो जाते हैं, नदियाँ उफनती हैं, न नाव चलती है न बसें चलती है। लोग फंसे होते हैं और कॉलेज की लड़के और लड़कियाँ खासकर जुलाई के महीने में जब इन्हें अपने गाँव से यूनिवर्सिटी ज्वाइन करने आना होता है ठीक उन्हीं दिनों बारिश हो रही होती है और वे अपने गाँव से तो निकल पड़ते हैं लेकिन फिर बस स्टैंड में आकर फँस जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे आस पास के किसी भी घरों में जाकर ये कहकर खटखटाते हैं कि पानी बरस रहा है कहाँ जाएँगे तो आज आपके यहाँ रह लेते हैं मेहमान बनकर। अच्छा ठीक है रह लीजिये। उन्हें बरामदा दे दिया जाता है । अगर खाना नहीं खाए हैं और थोड़ा सम्पति घर है तो खाने पीने का सामान भी दे देंगे। जो समस्याएँ है, उसका किस तरह का हल होता है यहाँ वह एक बड़े आदिवासी समाज का जो अपनापन है वह इनकी कहानियों में मिलती है। यह जो इनकी संस्कृति है वह शायद ही किसी दूसरे समाज में देखने को मिलती होगी। **पंचा** और **मदइत** शब्द से आपको समझने में मुश्किल होगी । पंचा और मदइत दोनों अलग–अलग हैं। पंचा एक ग्रुप होता है इसमें जो भी जुड़ना चाहता है वह जुड़ सकता

है। इसमें मेहनताना के लिए सिर्फ पांच या छह सेर का हड़िया दिया जाता है। किन्तु मदइत में कोई भी मदद के लिए आ सकता है इसमें हड़िया के साथ–साथ दाल भात भी दिया जाता है। यह काम आदिवासी समाज में अब तक लोग बड़े प्रेम से करते आ रहे हैं और कर रहे हैं।

साधारणतः हम देखते हैं कि झारखण्ड के आदिवासी समाज में कोई लिंग भेद नहीं किया जाता है, उनके जन्म पर भी खुशी मनाई जाती है, किन्तु रोज केरकेट्टा जी को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हो गया है कि झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में भी पितृसत्तात्मक समाज हावी हो चुका है। यह समाज के लिए एक बड़ी समस्या है। किन्तु किसी आदिवासी लेखक ने इस विषय पर गहराई से लिखने की कोशिश नहीं की जो एक आदिवासी लेखिका ने की है। एक स्त्री ही स्त्री का दर्द समझ सकती है शायद यही वजह हो सकता है जिसके कारण डॉ. रोज केरकेट्टा की कहानियों में स्त्री के हक़ के प्रति उनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

रोज केरकेट्टा उन साहित्यकारों में से हैं जिनकी रचनाओं में विविधता, आधुनिकता और प्रतिरोध का राजनीतिक स्वर है। उनकी कहानियों का महत्वपूर्ण उपलब्धि है उनकी भाषा। लेखिका ने इस संग्रह की कहानियों में अभिव्यक्ति की जिस शैली का प्रयोग किया है उसका एक अलग अंदाज और मजा है जिसे झारखण्ड के ग्रामीण जीवन से परिचित पाठक अधिक सहजता से समझ सकते हैं। अगर हम झारखण्ड के गाँव में जाएँ, जंगलों में जाएँ तो हमें सभी कहानियों के एक–एक पात्र जीवंत दिखाई देते हैं। उनकी कहानियों में झारखण्ड के ग्रामीण परिवेश से गहरा जुड़ाव और स्त्री के हक के प्रति उनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट परिलक्षित होती है। आदिवासियों की सच्ची आत्मानुभूति के साथ लिखी गई उनकी सभी कहानियां एक सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं।

इस संग्रह की कई कहानियों में यथा **'भंवर' 'घाना लोहार का' 'केराबांझी' 'गंध' 'से महुआ गिरे सगर राति' 'मैना'** और **'पगहा जोरी–जोरी रे घाटो'** में जबरदस्त स्त्री प्रतिकार दिखाई देती है। **'भंवर'** कहानी में हम देखते हैं। आदिवासी

समाज में जहाँ कोई लिंग भेद नहीं किया जाता है, जहाँ लड़कियों के जन्म पर भी खुशी मनायी जाती है वहां एक विधवा स्त्री जिनकी सिर्फ बेटियाँ हैं, उनकी हत्या क्यों कर दी जाती है? स्पष्ट है कि आदिवासी समाज भी पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ जमीन पर स्त्री के हक के सवाल पर क्रूरता और हिंसा भी की जा सकती है। यह आदिवासी समाज के अन्दर की बड़ी प्रखर समस्या है। उसी प्रकार **'घाना लोहार का'** शीर्षक कहानी में भी कहानी की नायिका अपने हकों के लिए जूझती नजर आती है।

मंगल सिंह मुंडा ने **'महुआ का फूल'** शीर्षक कहानी में नारी चरित्र के माध्यम से उनके संघर्ष, आत्म रक्षा व प्रतिरोध के स्वर का जिक्र किया है। इस कहानी में सेठ साहूकारों से आहत स्त्रियां अपना मुट्ठी खुद बांधती हैं और **ब्लेड सेना** नामक समिति का गठन करती हैं। चूँकि आदिवासी इलाकों में बाहरी सेठ साहूकारों का आना और बस जाना आम बात है और आते ही उन इलाकों में बसे सीधे–साधे लोगों का मनमाना शोषण करना और उन्हें नंगा करने की हर कोशिश करना उनकी नियति हैं। कैसे बाहरी घुसपैठी अपनी चिकनी–चुपड़ी बातों से लूट रहे हैं। जीविका के वस्तुओं को कैसे कौड़ी के भाव मोल रहे हैं। इसका चित्रण लेखक ने इस कहानी में किया है। ऐसी जुल्मों व शोषणों का उन्हें हर रोज सामना करना पड़ता है। आखिर कब तब झेलते ? उन गुंडों का सामना कब तक करते ? उनको यह दिखाना था कि नारी कोई अबला नहीं है, जब यह नारी शक्ति दुर्गा का रूप धारण कर लेती है तो उन्हें कोई नहीं रोक सकता। विभिन्न जुल्मों से बचने के लिए ब्लेड सेना का लीडर स्त्रियों के बीच में उन गुंडों के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा देती है। अब स्त्रियाँ हर जुल्मों के खिलाफ लड़ने को तैयार थीं, उनके चेहरे पर साहस और शौर्य का चमक था अब वे कोई भी अन्याय सहने को तैयार नहीं हैं।

बीरजू की हत्या के आरोप में जब उसे पुलिस पकड़कर ले जाती है तब वह कमजोर नहीं पड़ती बल्कि उत्तेजना तथा जोश से भरी, फौलादी आवाज में कौतुहल पूर्वक अपने ब्लेड सेना वाहिनियों को संबोधित करते हुए कहती है – **"ब्लेड सेना के वीर सेनानियों, माताओं एवं बहनों, बड़ी शर्म की बात है कि गाँव का पुरुष वर्ग मूलचंद की दमन नीति को कुचलने में पूरी तरह असफल रहा है। हमारी जानें**

खतरे में पड़ गई है। अब हमें पुरुषों पर कतई भरोसा नहीं करना चाहिए। नारी भी शक्ति का ही रूप है। आज इसे आजमाने का सुनहरा मौका आया है। गाँव की समस्त नारियां छोटी या बड़ी, इस झंडे के नीचे एकजुट होकर इसकी योजना को विफल कर दें। हमारे ब्लेड सेना वाहिनियों को तन मन धन से समर्थन दें, उनका मनोबल ऊँचा रखने में सहयोग दें। ताकि हम इस चुनौती का मुकाबला कर सकें। मूलचंद द्वारा भेजा गया कोई भी दुष्ट राक्षस एक या दो से नहीं जीता जा सकता। उसे हम मिलकर ही जीत सकती हैं। अतः मेरा आह्वान है कि शक्ति का रूप देवी दुर्गा साहस की प्रतिमा लक्ष्मीबाई का स्मरण कर इस झंडे के तले एक हो जाएँ। हमारे वीर सेनानियों को आदेश है कि वे हमेशा समूह में में रहें, तथा अपने–अपने खोपों, बेणियों में तेज धार वाला ब्लेड रखा करें ताकि समय और कायदे के मुताबिक उस राक्षस का काम तमाम किया जा सके। मूलचंद के शोषण से मुक्ति मिल सके, सरकारी गोदामों में अपना माल बेच सकें ताकि हमें उत्पाद का उचित दाम मिल सके।"[8]

नारी का विद्रोही रूप आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में ही देखने को मिलता है। वाल्टर भेंगरा तरुण का स्त्री पात्रा का विद्रोह देखिये जैसे ही पता चला कि उनके पिता को पुलिस उठा के ले गई है साथ ही उनके बकरे को भी उठा के ले गई है तब वह बिना किसी से कुछ कहे हथियार उठा कर निकल जाती है। माना कि जंगल पर सरकार का अधिकार आ जाने के बाद लकड़ी काटना कानूनन जुर्म हैं पर उस बकरे का कसूर क्या था? जिसे उन्होंने अपने मर्जी से उठा ले गए। क्या यही उनका इन्साफ है? क्या यही उनकी कानूनी कार्रवाई है? अगर यही उनकी कानूनी कार्रवाई है तो नहीं चाहिए ऐसी शासन व्यवस्था। वह बकरा सिर्फ जानवर नहीं था बल्कि उस परिवार का सदस्य भी था, उनका जमा पूँजी था। **पगहा जोरी जोरी रे घाटो** की दया को हम देखें वह अपने भाइयों की तरह स्कूल जाना चाहती है लेकिन उसे स्कूल इसलिए नहीं जाने दिया जाता है क्योंकि वह लड़की बच्ची है वह भली भांति जानती है कि उसे क्यों नहीं पढ़ाया जा रहा है इसलिए वह विरोध की शुरुआत अपने माता–पिता के सामने ही करती हुई कहती है – "**बेटों को पढ़ा रही है एक गिलास पानी तक नहीं पिलाते हैं उनको पढ़ा रही है, कभी माँ पैर दबाने को**

कहती , बेटी तुरंत कहती – अपने बेटों से दबवाओ ....। कभी दया कहती मेरा विवाह हो जायगा तो इस घर के दरवाजे पर दोबारा पैर नहीं रखूंगी।"[9]

स्त्री प्रतिरोध पर रोज केरकेट्टा की एक पूरी कहानी **प्रतिरोध** शीर्षक पर ही आधारित है। इस कहानी में प्रतिरोध के बल पर ही स्त्री पुरुष के बीच समानता की बात करती हैं और अपनी इच्छानुसार जिंदगी जीते हैं। प्रतिरोध की शुरुआत वे अपने बीच, अपने परिवार तथा समाज के बीच से करती हैं। जैसे – "**पहली बार उन्होंने शहर में खरीदकर खाया। उस खाने को जायज ठहराया कि हमीं तो रोज कमाती हैं, अपनी कमाई सें एक दिन खा गए तो क्या हुआ? बड़ों की खैनी में तो कटौती नहीं हुई। समय की पाबंदी तोड़ने का उन्हें लाभ मिला। अब उनकी बात–चीत के केंद्र में "हम भी ऐसा कर सकती हैं" हो गया।"**[10]

अगहन–पूस में खेत– खलिहान का काम बढ़ जाता है। लड़कियाँ दातुन–पत्तल बेचने के लिए शहर सिर्फ हाट के दिन ही जातीं। बरसात में दातुन–पत्तल के सूखने का प्रश्न ही नहीं उठता इसलिए लोग सप्ताह भर के लिए दातुन– पत्तल खरीद लेते। इन मौसमों में लड़कियाँ दिन में धान काटतीं और पूलें छोड़ देतीं। सिर पर धान की पूलें ढोने से इनकार करने लगीं, क्योंकि उनका मानना है, अगर लड़के धान नहीं काट सकते तो लड़कियाँ भी धान नहीं ढो सकतीं।इस सन्दर्भ में लड़कियों ने कहा – **हमारा काम तो रांधना–बांटना है धान ढोना नहीं।**[11] वे खेत से निकल जातीं। पुरुष धुंधलके तक ढोते रहते। अँधेरा होने पर जैसे ही हाथ–मुंह धोकर बैठते, गरमागरम खाना परोस देतीं। भाइयों को शिकायत का मौका नहीं मिल रहा था। इससे स्पष्ट होता है कि उनका प्रतिरोध पुरुष विरोधी नहीं है।

प्रेम की मिसाल के रूप में हम रोज केरकेट्टा की कहानी **'आँचल का टुकड़ा'** को देखते हैं यह एक प्रेम कथा है। कथा में लाल झाड़न का जो जिक्र है वही उनके प्रेम कथा को बहुआयामी बनाता है। **से महुआ गिरे सगर राति** की जोसफा नर्सिंग की ट्रेनिंग ले रही है इस कारण तानिस का परिवार उसे नहीं स्वीकारता। रामदयाल मुंडा जी की कहानी **उस दिन रास्ते में** की नंदी और मनु मास्टर

की शादी इसलिए नहीं होती है क्योंकि उन दोनों के बीच रोड़ा बनता है गरीबी तथा मनु मास्टर की माँ को डायन करार देना। सन्दू और बूंदी की प्रेम कहानी मंगल सिंह मुंडा कृत **छैला सन्दु** उपन्यास में देखने को मिलता है। इन दोनों के प्यार के बीच आता है जाति। उपन्यास में हम देखते हैं कि इनका प्रेम समर्पण भरा प्रेम है इनको जाति–पाति से कोई लेना देना नहीं। इस संदर्भ में नायिका के माध्यम से लेखक कहते हैं –"**मानव समाज में नारी का जन्म ही श्रृंगार रस के अणुओं से हुआ है इस अणुओं को अपनी अपनी कोख में पलने पोसने का हर नारी को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझना चाहिए तथा इसके लिए हर न्यायोचित हक मांगनी चाहिए। यही नहीं इस सबकी प्राप्ति के रास्ते पर जाति–धर्म , वर्ग–सम्प्रदाय , सामाजिक कानून कायदे कुछ भी आड़े नहीं आने चाहिए।"**[12] अपने प्रेम के बीच विभिन्न व्यवधानों के कारण दोनों अपने समाज से ही दूर घने जंगलों के बीच चले जाते हैं उनके बीच अब कोई नहीं सिर्फ प्रकृ ति ही प्रकृति है किसी चीज की कोई चिंता नहीं, किन्तु अचानक इनके गायब होने के बाद की जो लड़ाई है वह सिर्फ एक परिवार का नहीं है बल्कि पूरे आदिवासी समाज के अस्तित्व को बचाने की लड़ाई है। जब उन्हें अहसास हुआ कि इस तरह समाज से भागना कायरता है और कायरता से हम अपने प्रेम को अमर नहीं बना सकते इसलिए समाज के बनाये गए नियमों का पालन करके ही हम अपने प्रेम को अमर बना सकते है। उनके बेइन्तहां मोहब्बत की असली परीक्षा तब होती है जब बांसुरी वादन प्रतियोगिता के माध्यम से स्वयंवर का आयोजन होता है और वह विजयी होता है – "**ज्यों ही बूंदी ने माला लिए हाथो को ऊपर उठाया सन्दू ने उसे आड़े हाथो लिया और माला को अस्वीकार करते हुए कहा – "प्रिये हमें एक दूसरे को चिरकाल तक पाने के लिए एक दूसरे को चिरकाल तक खोना ही उत्तम मार्ग है। अतः यह वरमाला मुझे पहनाने के बजाय द्वितीय स्थान पाने वाले युवराज के गले में डाल देना।"**[13] क्योंकि वह जानता था कि इससे पारिवारिक आनंद की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए वह बूंदी से कहता है – मानव जीवन का सन्दर्भ जीवन में आनंद प्राप्ति ही है। एक पारिवारिक आनंद तथा दूसरा व्यक्तिगत आनंद। दोनों के बीच सामंजस्य लाना ही सफल जीवन की कला है। जाओ घर बसाओ, फलो फूलो। लेखक इसमें यह बताने की कोशिश की है कि ये सिर्फ प्रेम तक ही सीमित नहीं हैं अर्थात मौके का फायदा नहीं उठाते। गरीब हैं

तो क्या हुआ उनका अपना समाज है, समाज में उनकी इज्जत है सम्मान है तथा भावनाएं भी हैं। वाल्टर भेंगरा तरुण की **लौटते हुए** पलायन पर आधारित एक समस्या प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास में कथा नायिका घर की माली हालात के कारण ही महानगरों का रुख लेती है। उनके इरादे एकदम नेक थे किन्तु दिल्ली जैसे महानगरों में उनका खूब शोषण होता रहा। उपन्यास में लेखक ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह भी नेक और अटूट है। चूँकि सलोमी के साथ दिल्ली महानगर में जो घटनाएँ घटी थी, उन हालातों से वह उबर नहीं पा रही थी जिसके कारण अपने भीतर दबे प्रेम को विवाह में परिणत होने से नकारती रही लेकिन सब कुछ जानते हुए भी प्रकाश उनसे यह कहता है तुम मेरे लिए जैसे कल थी वैसे आज भी हो। और इस प्रकार वह सलोमी के सामने जीवन भर साथ रहने का प्रस्ताव रखता है किन्तु लेखक ने जिस प्रकार से उपन्यास का अंत किया है वह पाठक को सोचने में मजबूर करती है कि क्या दूसरे दिन लौटते हुए सलोमी प्रकाश का प्रस्ताव स्वीकार करेगी ? प्रकाश की समझदारी और उनके अटूट प्यार को देखकर यह लगता है कि आज जिसे सलोमी ने कोई जवाब नहीं दिया है उसे कल लौटते हुए स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि उनके सामने पूरी जिंदगी पड़ी है। महानगरों में उनके साथ जो कुछ भी हुआ वह उनके खिलाफ था, उसमें उनकी कोई मर्जी नहीं थी। वह आर्थिक परिस्थितियों के कारण दिल्ली गई थी ताकि घर सवंर जाय तथा उनके भाई–बहन अच्छी तरह से पढ़ सके। और वह अपने इरादे में कामयाब भी रही। इसलिए पिछली घटनाओं को भुलाकर प्रकाश का प्रस्ताव स्वीकार कर लेना चाहिए जिससे प्रेम और प्रेम नाम का शब्द अमर हो सके। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम का कोई गलत प्रयोग न करें, प्रेम की आड़ में कोई खिलवाड़ न करे। मंगल सिंह मुंडा अपने उपन्यास में लिखते हैं – "**सुलभ सामाजिक जीवन का तकाजा है कि किसी नायक नायिका के बीच प्रेम प्रलाप में विघ्न डालने का उनके अभिभावकों को भी अधिकार हासिल नहीं। प्रेम तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मांग करता है।**"[14] उसी प्रकार इस सम्बन्ध में रूपलाल बेदिया की कहानी **'धर्म के चौराहे पर इंसान'** नामक कहानी को देख सकते है कहानी का कथानायक जेठू मुंडा का बेटा चेतन तथा समीरण सुरीन एक साथ पले बढ़े जिसके कारण दोनों में प्रेम हो जाता है और वे दोनों शादी भी करना चाहते हैं किन्तु समस्या यह है कि एक विशुद्ध आदिवासी सरना धर्मावलम्बी है तो दूसरी

ईसाई धर्मावलम्बी। फिर भी दोनों मंदिर शादी कर लेते हैं लेकिन खामियाजा यह भुगतना पड़ता है कि ये शादी जेठू मुंडा का परिवार स्वीकार नहीं करता है और उन्हें परिवार से अलग कर दिया जाता है। इस प्रकार कहीं तो धर्म भी इनके विवाह में रोड़े बन जाते है तो कहीं रोजगार।

औरत के लिए बांझी शब्द एक गाली के समान होता है **केराबांझी** कहानी में एक शिक्षित बहू पति के साथ मिलकर यह तय करती है कि वह एक ही बच्चा पैदा करेगी जो उनके ससुर को पसंद नहीं है। इसलिए ससुर कहता है– **'ई बलधनवा को देखो एके गो बेटी जन्मा के तरना चल रहा है । अरे कोंटी–कुकुर से का होगा। कनियो ओइसने लाया है। अरे बहुआ पूरा समाज जात गोतिया तुम्हे नाम धरेगा। केराबांझी कहेगा रे। हाँ केराबांझी कहेगा बालधन के कहे में मत चलना। बालधन और मनबोध तो कुलबोरन हैं कुलबोरन।'**[15] ससुर के इस वाक्य से स्पष्ट है कि उन्हें अपने कुल के लिए एक लड़का बच्चा ही चाहिए उसने लड़की बच्ची को एक कुतिया की उपमा दी है। किन्तु बहू केराबांझी शब्द का जो ठप्पा है उसे तोड़ते हुए दृढ़ शब्दों में कहती है– **'आप मुझे केराबांझी कह सकते हैं। क्योंकि हमने, हाँ हम पति–पत्नी ने मिलकर इसे स्वीकारा है।'**[16] वहीं हम **पगहा जोरी–जोरी रे घाटो** की दया को देखते हैं उसे इसलिए नहीं पढ़ाया जाता है क्योंकि वह एक लड़की है। दया पढ़ना चाहती है वह बार–बार कहती है मेरा भी स्कूल में नाम लिखा दो बाबा मैं पढ़ना चाहती हूँ। पर उसकी माँ कहती– **'पढ़के क्या करोगी। विवाह होगा तो ससुराल में भी चूल्हा फूंकोगी काम सीखो बेटी। सिखलाही बहू को सास भी प्यार नहीं करती है। सास को तो कामनी बहू चाहिए। पागल मत बनो।'**[17] इसमें लड़की बच्ची को न पढ़ाने का एकमात्र कारण लड़की होना ही नहीं है उसके पीछे उसकी गरीबी है। क्योंकि हर साल कॉपी पुस्तकों के लिए धान बेचना पड़ता है जो उनके साल भर की कमाई होती है। इस संग्रह की अन्य कहानियाँ **भाग्य** तथा **कोंपलों को रहने दो** आदि जो इस समाज की गरीबी को दर्शाता है। कौन सा ऐसा पिता होगा जो अपने जिगर के टुकड़े को अपने से अलग करना चाहेगा किन्तु परिस्थिति यह सब करने में उन्हें मजबूर करती है। कैसे लगा होगा उस मरटिना को अनाथालय में छोड़ते हुए? कैसे लगा होगा उस

सिनकोम को मेले में गैरों के भरोसे छोड़कर तथा बेटों को यहाँ वहाँ छोड़ते हुए? कलेजे पर पत्थर रखकर यह सब करना पड़ा होगा।

जमीन की समस्या आदिवासियों की मूल समस्या रही है। जमीन पर हक के सवाल या सम्पति पर अधिकार को लेकर हम **भंवर** कहानी को सहज ही देखते हैं इस कहानी में उस विधवा स्त्री का हक जो जमीन पर है जो ताउम्र बना रहता है। वह हक समाज से मिला है वह हक उसको मिलेगा या नहीं मिलेगा। मिला हुआ है समाज से फिर भी यह सवाल उठता कि मिलेगा या नहीं मिलेगा। कानून मान चुका है, समाज भी मानता है, फिर भी उसको हक नहीं मिलता है न ही दिया जाता है। उसी प्रकार हम रूपलाल बेदिया का **शहर के दाग का दान** पीटर पॉल एक्का का **'परती जमीन' 'राजकुमारों के देश में'** तथा **'सायरन'** जैसी कई कहानियों को देखते हैं। इन कहानियों में कहीं बाँध बनाने के उद्देश्य से तो कहीं लोहा कारखाना लगाने या कहीं कोलियरी खोलने को लेकर इन इलाकों में बहिरागतों का आना हुआ है। खदान कलकारखाना तथा विद्युत परियोजनाओं से विस्थापित स्थानीय लोग जिस प्रकार से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह इन कहानियों के माध्यम में देखा जा सकता है। इनके विस्थापन का उचित मुआवजा भी इन्हें नहीं मिलता। विस्थापित आदिवासी औद्योगीकरण एवं भूमंडलीकरण के कारण दर–दर की ठोकरें खाते हैं और किसी तरह जीवन जीने को विवश हैं। क्या ये आदिवासी इन परियोजनाओं का लाभ उठा पाते हैं ? शायद नहीं क्योंकि उनका व्यवस्थित पुनर्वास ही नहीं होता साथ ही इन परियोजनाओं के कारण इलाके में गैर आदिवासी बहिरागतों के घुसते ही रही सही कसर पूरी हो जाती है। **परती जमीन** में हम देखते हैं कि गैर–आदिवासी बड़े बाबू ने यह फरमान जारी कर दिया था कि अगर कोई लड़की उनके घर में काम पर नहीं आयगी तो उसके गाँव वालों को मजदूरी से भी बेदखल किया जायगा। उनके घरों पर काम तो एक बहाना है, इरादा तो कुछ और होता है।

इस प्रकार आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में कई प्रकार के समस्याओं का उल्लेख किया है। स्त्रियों की बलात्कार जैसी समस्याएँ, अन्धविश्वास ,पलायन, नशा, जुआ, आलसी, लापरवाह आदि। उनका लक्ष्य

सिर्फ उल्लेख करना या लिखना ही नहीं हैं किन्तु अपनी लेखनी के माध्यम से पूरे आदिवासी समुदाय को जागरूक करना है । कई बार ऐसा होता है कि हमारे साथ जो अत्याचार हो रहा होता है किसी लत में पड़े होते हैं तो हमारे ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता, हम मूर्ति की तरह पड़े रहते हैं जो हो रहा होने देते हैं और जब तक होश आता है तब तक बहुत देर हो चुका होता है। रामदयाल मुंडा की कहानी **नया धंधा** आदिवासी समाज की बर्बादी का ही इशारा है। बाजारवाद के प्रभाव में या भूमंडलीकरण के चलते आजकल बहुत से भाई बंधु अपने भरे पूरे जल, जंगल, जमीन को छोड़कर शहर की ओर भागते हैं। नशे की लत में अपने पैतृक सम्पति को बर्बाद करते हैं और पलायन को मजबूर हो जाते हैं। पलायन के बाद जिस प्रकार से इस कहानी में एक दम्पति की दयनीय स्थिति को दिखाया गया है वह एक इशारा मात्र ही है। ऐसे ही हजारों आदिवासीगण भारत के विभिन्न राज्यों में अपने गाँव को छोड़कर बदहाली जीवन व्यतीत करने को मजबूर हैं। उस दलदल में फंसने के बाद कहानी में यह दिखाया गया है कि उनके दिल में हमेशा यह चाह रहती है कि काश कोई नया धंधा मिल जाय जिससे हालात सुधर जाय और अपना बंधक जमीन छूट जाय। इस धंधे से उस धंधे के चक्कर में ही पूरी जिंदगी निकल जाती है और वे कभी उबर नहीं पाते । लेखक पीड़िता के माध्यम से कहते हैं – "**कुछ भी हो अपना ग्राम देश कभी छूटता है ? यहाँ तो हम अपना पेट टिकाने के लिए आये हुए हैं । हमारी हालत जरा सुधर ले , इसी उद्देश्य से हम यहाँ आये हुए हैं । एक बार वह बंधक जमीन छूट जाय तो हम फिर से बन जाएँगे।**"[18] यह कहानी यह सीख दे जाती है कि अगर हम ईमानदारी से अपना कार्य करते रहें तो न हमें भटकने की आवश्यकता है और न ही नए धंधे की। कहा जाता है हड़िया दारू आदिवासी समाज का अभिन्न अंग है और यह सत्य भी है क्योंकि इसके बिना आदिवासी समाज में कुछ भी काम संभव नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु तक छोटे से छोटे काम से लेकर शादी ब्याह तक इसकी जरुरत पड़ती है। किन्तु नशे का लत एक बड़ी समस्या है। चाहे लत शराब का हो या जुए का, लत ऐसी चीज है जो इंसान को नंगा कर देता है। देखने में यह बहुत मामूली सी लगती है किन्तु इसका अंजाम बहुत बुरा होता है। बाहरी घुसपैठी दिकुओं को आदिवासियों का यह स्वभाव भली–भांति

पता होता है वे ऐसा चाहते भी हैं और उन्हें किसी तरह ऋण में फंसा कर उनकी जमीन सस्ते और सहज तरीके से हथिया लेते हैं।

झारखण्ड आन्दोलन में लम्बे समय से जुड़े रहने के कारण रामदयाल मुंडा जी की कहानियों में राजनीति का भी प्रभाव दिखाई देता है। क्या–क्या सपने संजोये थे झारखंडियों ने? उनके इच्छानुसार उन्हें अपना राज्य मिल गया था पर न कुछ होना था न हुआ। रामदयाल मुंडा जी की कहानी **'खरगोशों का कष्ट'** झारखण्ड आन्दोलन पर आधारित माना जा सकता है। कहानी में खरगोशों को हमेशा सिंहों से भय बना रहता है। खरगोशों की संख्या दिनोदिन घटती जा रही है। हर दिन किसी न किसी को सिंहों का ग्रास बनना पड़ता है। कहानी में एक खरगोश को सिंह की वेश भूषा में ढालकर सिंहों के बीच भेजा गया। खरगोशों के प्रति सिंहों के मन में कितनी घृणा भरी हुई है यह जानकर बाद में उन्होंने अलग जंगल की मांग की। सिंहों को भी बाद में पता चला कि उनके बीच जो नया सिंह आया था वह कोई सिंह नहीं बल्कि एक खरगोश था। खरगोश चूँकि उनका सारा भेद जानता था इसलिए उन्होंने क्रोध से काम नहीं लिया क्योंकि उन्हें दूसरे जानवरों के बीच बदनाम होने का भी भय था। इसलिए उन्होंने बुद्धि से काम लिया और उन्हें आमंत्रित किया और उन्हें राजा के बगल में बैठाया गया। राजा के साथ रहते–रहते खरगोश को भी उसी की तरह सुख में रहने की आदत पड़ गई और वह उनसे समझौता करके आ गया कि सिंहों से मिलकर ही उन्हें अलग राज्य लेने की कोशिश करनी चाहिए। वह सिंहों के रंग में ही ढल चुका था जो कभी सिंहों का विरोधी हुआ करता था। वैसे ही झारखण्ड आन्दोलन में भी कुछ एक आदिवासी नेता यह जानते हुए भी कि उन्हें अपने नैसर्गिक अधिकारों से वंचित होना पड़ेगा, फिर भी आदिवासियों की चिंता छोड़कर वह किसी बड़े दल के साथ समझौता कर लेता है।

रामदयाल मुंडा जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से अन्धविश्वास और ढोंगियों के चंगुल में बेवजह फंसने वाले उस समाज को जगाने की कोशिश की है। **भूत निकासन** में हम देखते हैं कि कैसे गाँव में अपने को गुणी बताकर ढोंगी बाबाओं का पेशा बरकरार है। अपने पेशे को बरकरार रखने के लिए कैसे वे

सीधे–साधे लोगों को अपने झांसे में लाकर, बलि के रूप मुर्गे बकरे की मांग करते हैं, और दूर बाजारों में ले जाकर उन बेजुबानों का व्यापार करते हैं। इन सब चीजों से लेखक अपनी रचनाएँ गिना नहीं रहे हैं किन्तु ये बताने की कोशिश कर रहे हैं कि किसी भी बीमारी का निवारण जानवरों की बलि से नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर वे अपने भोगे हुए अहसास को रचनाओं के माध्यम से बताने की कोशिश की है ताकि विभिन्न परिस्थितियों में सोच समझकर कदम उठाया जा सके ।

संगीत और नृत्य आदिवासी समाज की खास पहचान है। इनके बगैर आदिवासियों के लिए जिंदगी एकदम अधूरी है। लोकगीतों का प्रयोग रचनाओं को और भी सजीवता प्रदान करता है। अपनी परम्परा के अनुसार त्योहारों में गाए जाने वाले गीतों, रोपनी से लेकर कटनी तक के अवसरों में गाए जाने वाले गीतों, अखड़ा में गाये जाने वाले गीतों के साथ–साथ विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों को वे अपनी भाषाओं का प्रयोग करते हुए सुट्टढ़ संस्कृति का परिचय दिया है। आदिवासियों की संस्कृति को जानना हो अगर, तो पीटर पॉल एक्का का उपन्यास **जंगल के गीत** काफी सहारा साबित हो सकता है। वैसे तो आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में उनकी संस्कृति या परम्पराएं झलकती ही हैं किन्तु इस उपन्यास में लेखक ने माघ से लेकर पूस तक होने वाले विभिन्न अवसरों के संगीत और नृत्य का जिक्र किया है। दिनभर काम करने के बाद जो थकान होती है उसे दूर करने के लिए वे लोक संगीत और लोकनृत्य ही करते हैं, तो अपनी पेट की भूख को भुलाने के लिए भी लोकगीतों का ही सहारा लेते हैं। लेखक चूँकि खुद उरांव समाज से ताल्लुक रखते हैं इसीलिए इनके उपन्यास में उरांव समाज और उसकी संस्कृति बहुत गहराई से चित्रित हुई है। उरांव समाज में मनाये जाने वाले खास पर्वों सरहूल, करमा, सोहराई आदि का बहुत ही सजीव वर्णन लेखक ने किया है। इन अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों की चर्चा भी अपनी भाषा कुड़ुख में की है जो उनके उपन्यास को सजीवता प्रदान करती है। इन अवसरों के कुछ लोकगीत इस प्रकार हैं –

सरहुल के अवसर पर गाए जाने वाले गीत –

"खद्दी गड़डेरा गे झंडा

गुचाय कोय डिंडा पेलो

बेचागे कालोत ।।

पईरी बारी झंडा गड़डेरा

गुचाय कोय डिंडा पेलो

बेचागे कालोत ।।"[19]

हिंदी अनुवाद – (सरहुल के लिए झंडा गाड़ा है

ए कुंवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए । ।

सुबह में झंडा गाड़ा गया है,

ए कुंवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए । ।)

जब इस त्योहार का युवक–युवतियों पर सुरूर चढ़ने लगता है तब का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है – मांदर ढोल अब तेजी से डिमडिमाने लगे हैं। अखाड़े में युवक–युवतियों की टोलियाँ सज गई हैं। गीतों की कड़ियाँ छिटक पड़ती हैं, तो बेसुध युवतियों की बलखाती कमर, एक लय में झूमने लगी। एक के बाद एक उठता ज्वार उन्मुक्त भावनाओं की बनती बिगडती बेहिसाब लहरें –

"कादन कादन बअदी कोय पेलो

खेड़्डन्ता धूलिन , खेतेरअय कालय ।।

निंग्यो निम्बा केबोर कोय पेलो

खेड़्डन्ता धूलिन , खेतेरअय कालय ।।" [20]

हिंदी अनुवाद

(ए लड़की तुम जाउंगी जाउंगी तो कहती हो

पैर की धुल को जरा झाड़कर जाओ।

ए लड़की तुम्हारे माँ बाप गाली देंगे .

पैर की धुल को जरा झाड़कर जाओ।)

फग्गु सेन्द्रा फागुन त्योहार के समय का उत्सव है। इसमें गाँव के युवक शिकार करने के लिए जंगल जाते है जिसे फग्गु सेन्द्रा कहा जाता है। इस अवसर में गाये जाने वाला गीत है–

"एंदेरा लो खरखी कोय पेलो

बनारी परेता नू सोहोड़ बई।।

पके सादिम के खरखी कोय पेलो

बनारी परेता नू सोहोड़ बई।।

सेंदेरा कादय भईया , करेगा कादय

मझी मझी भईया अमके मना , भईया रे मोरा ,एकेसन रअदय।

तीर दिम लग्गो भईया , बन्दुक दिम लग्गो

मझी मझी भईया अमके मना , भईया रे मोरा ,एकेसन रअदय।"[21]

हिंदी अनुवाद –

(क्या रकपका रहा है लड़की

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है ।।

सूखी पत्तियां रकपका रहा है लड़की

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है ।।

शिकार खेलने जाते हो भईया पहाड़ जाते हो

बीच बीच में मत रहना , भईया मेरे कहाँ हो

तीर लगेगा भईया बन्दूक लगेगा

बीच बीच में मत रहना , भईया कहाँ हो ।)

करमा त्योहार के गीत –

"गुचा भईया रे खेल ओधरा

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे ।

पुतवारी भईया खेल ओधरा

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।"[22]

हिंदी अनुवाद – {चलो रे भईया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जाएँ ।।

सांझ को भईया मांदर निकालों

आओ चलें करम काटने जाएँ ।। }

करमा उत्सव की खुशी में कैसे वे करमा डाली लेने के लिए जंगल जाते हैं और कैसे उनके गीतों की कड़ियां पूरे जंगल और पहाड़ियों में छिटकती है उसका वर्णन इस प्रकार है –

"सनीम सनीम परेता नू

चुबा मिंजुर चींखी दो खदियो

चुबा मिंजुर चींखी।।"[23]

हिंदी अनुवाद

(छोटे–छोटे जंगल में

ए लड़कियों मयूर गा रहा है,

मयूर गा रहा है ।।)

प्रेम में ओत प्रोत के गीत –

"लोहेरा लोहेरा पेलो मैना बेद्दा केरा

मैना निंगहैं पेलो कोड़ानू रई।।

पईरी बारी पेलो मैना बेद्दा केरा

मैना निंगहैं पेलो कोड़ानू रई।।"[24]

हिंदी अनुवाद

(लोहरा लड़की मैना ढूढने गई

तुम्हारा मैना तो ए लड़की, घर के कोने में है ।।

सुबह के समय लड़की मैना खोजने गई

तुम्हारा मैना तो ए लड़की, घर के कोने में है ।।

जतरा के गीत –

जतरा युवक–युवतियों का मिलन स्थान ही नहीं किन्तु एक विशेष लक्ष्य भी होता है। यह वो स्थान है जहाँ पर विवाह के दहलीज में पहुंचे लड़के–लड़कियाँ एक दूसरे को देखते हैं और पसंद आने पर लड़का–लड़की के बालों पर बकिर्गा (कंघी) खोंसता है। और उनकी शादी तय हो जाती है। उन्हीं जतरा के अवसर पर का यह लोकगीत –

"सिंगिल बिन्गिल तुम्बा दे

अमके तेंगा कुद्दा कोय निंग्हैं जोगे तुम्बा दे ।।

खई काली कीता डहरे नू

बबूस कादस मइता डहरे नू

बोंगा से भैया , चोंगा से भैया खई गने ।।[25]

हिंदी अनुवाद –

(सिंगिल बिगिल तुम्बा रे

मत बता चलना कि तुम्हारे योग्य तुम्बा है

कन्या नीचे के रास्ते से जाती है

बाबु ऊपर के रास्ते से जाता है

भैया जल्दी जल्दी चले जाओ, कन्या के साथ ।।)

कदलेटा कृषि कार्य से सम्बंधित है। कदलेटा उत्सव के साथ ही धान की रोपनी शुरू कर दी जाती है। रोपनी के समय कैसे बारिश में गुन्गु ओढ़कर युवतियां धान रोपती हैं तथा अपने लोकगीतों से पूरे आंचल को कैसे साराबोर करती हैं उसका एक उदाहरण है–

"रसा रसा चेप पुंइयी

है रे भईयासिन एरा हूँ पेल्लोन ।

पईरी बरी चेप पुंइयी

है रे भईयासिन चिन्हा हूँ पेल्लोन ।।[26]

हिंदी अनुवाद

(रसा रसा कर बारिश हो रही है

है रे मैं अपने भाई को देख भी नहीं सकती हूँ

सबेरे से बारिश हो रही है

है रे मैं अपने भाई को पहचान भी नहीं सकती हूँ)

आदिवासियों के यहाँ प्रत्येक अवसर के अनुसार नृत्य और संगीत की विशिष्ट शैली होती है जो इनके समृद्ध संस्कृति को दर्शाती है। उपन्यास में यह विविधता देखने को मिलती है। चूँकि लेखक ने खुद इस जीवन को जिया है इसीलिए उसने आदिवासी समाज का बहुत ही बारीकी के साथ चित्रण किया है। लेखक को आदिवासी दर्शन का ज्ञान है, इसीलिए उनके द्वारा किये गये वर्णन सजीव और प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। साथ ही आज जो संकट इस समाज के सामने मौजूद है उसके सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सामने लाने का प्रयास इस उपन्यास के माध्यम से किया है।

वर्तमान आदिवासी युवापीढ़ी संस्कृति से जुड़ी अनुभवों को भूलती जा रही है महानगरों की ओर ज्यादा आकर्षित हो रहे हैं। पश्चिमी संस्कृति से ज्यादा प्रभावित हो रहे हैं। आदिवासियों के संस्कृति की पहचान उनकी भाषा है। किन्तु उनकी भाषा धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही है क्षेत्रों में हिंदी भाषा वर्चस्व की भाषा बनती जा रही है, हिंदी भाषा कैसे क्षेत्रीय भाषाओं को दबाती जा रही है यह सहज ही देखने को मिलता है। यह आदिवासियों का महा सांस्कृतिक संकट है। अब वह लोका–गोटी खेलना व छुवा–छुवी खेलना नहीं रह गया है अब तो क्रिकेट व कैरम आदि खेला जाता है। जंगलों में कंदमूल खोजने की प्रवृत्ति, मछलियाँ मारने की प्रवृत्ति धीरे–धीरे खत्म होती जा रही है इसका कारण एक तो उनका जल, जंगल, जमीन छिनना तो दूसरी ओर बाजारवाद का इनपर अत्यधिक प्रभाव है। ऐसी परिस्थितियों में आदिवासी साहित्यकारों की ये रचनाएँ आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता को बचाने की लड़ाई में लेखकों द्वारा बढ़ाया गया कदम है। रोज केरकेट्टा की कहानियों में प्रकृति का हर रूप देखने को मिलता है। अपनी कलात्मक भाषा शैली के माध्यम से आदिवासी समाज और संस्कृति को कितने सरल ढंग से कहानियों के माध्यम से समझाने की कोशिश की है।

इसमें समाज के एक भाग का चित्रण देखिये– तब हर चरवाहे के पास एक मैना होता था कैसे वह चरवाहा गुलेल की झोली, पीठ में छाता, सोंटी व अपने मैना के साथ चरवाही के लिए निकलता था। मैना, चरवाहे और पिंजडे को लेकर लेखिका ने बहुत ही अच्छा वर्णन किया है यथा **'उन्होंने केंदु पत्ती से अपनी अपनी मैना के लिए पिंजड़ा बनाया था उसमें धान का भूसा और कोडहा मिलाकर भरा था । इसमें पक्षी को आरामदायक गर्मी मिलती । सुबह दोपहर सारे चरवाहे एक साथ निकलते थे मैदान में छाता, अंगोछा रख देते सोंटी लेकर फतिंगों का शिकार करते और अपनी मैना को खिलाते थे । भरपेट भोजन मिलने के कारण मैनाएँ दो माह में युवा हो जाती थी । चरवाहों के साथ रहने कारण मैनाएँ घुर रे घुर , हियो हियो हिर्रे रे आदि स्वतःसीख जाती हैं । हटहटा कर हँसना और सीटी बजाना मैनाओं का शौक होता है जब मैनाएँ ये सारी बातें सीख जाती हैं तब चरवाही उन्हें देखना रे देखना घुराना रे कह कर आप खेलने का समय बना लेते हैं।'**[27]

रोज केरकेट्टा की भाषा शैली का एक अन्य उदहारण **बाही** शीर्षक कहानी से है। कहानी में जो वार्तालाप है, उसकी रसानुभूति शायद ही आप कर पाएँगे उस वार्तालाप के पीछे का लय भी कुछ अलग है यथा– **'नीचे से उसकी दीदी सोमारी गेंडूडांग से पके फल चुनचुन कर तोड़ रही थी मरियम बाही की आवाज सुनकर पेड़ के नीचे से बोली–**

'हमारे लिए भी हिला दो न बाही, चुनकर खाएँगे ।

बाही– तुमलोग भी चढ़ो और खाओ ना मामी (फूफू), तुम लोगों का भी तो हाथ–पैर है।'

मरियम – 'ओहरे बाही, हिला दो कह रही हूँ तो मुझे ही पेड़ चढ़ने कह रही है।'

बाही – 'हाँ तो मामी, तुम्हारा भी तो हाथ– पैर है। मै भी तो यही बोल रही हूँ।'[28]

तब दोनों ने बाही को पहचाना और दोनों हंसने लगे। सोमारी बोली – **'मायगुलिया बाही कहीं की! चलो घर। हमलोगों को भी पागल बना दिया तुमने।'**[29]

उनकी **प्रतिरोध** शीर्षक कहानी से एक उदहारण राजाबासा की सुशीला के पिताजी ने बात आरम्भ की – **'भला साड़ी पहन के भी कोई फुटबाल खेलता है। और नहीं तो कम–से– कम...उ, क्या कहते हैं, सलवार ही पहन लेतींद्यखूब पटकाई न ? तुमलोग कुछ करने का सोचती हो तो बतियाना चाहिए था न! अच्छा लगा खुशी हुई कि तुमलोग समय के साथ चलना चाह रही हो।'**[30]

एक दूसरी कहानी है **फिक्स्ड डिपोजिट** – **"पिताजी ने उत्तीर्ण होने वालों को बधाई दी थी, पर मनोहर दा को डांटते हुए बोले थे – तुम, तुम क्या करोगे? बोका बने रहो। सब तुम्हारे दोस्त कॉलेज जाएँगे। तुम गोरु चराते रहना।"**[31]

भाषा का मिटना एक महा सांस्कृतिक संकट है। अपनी भाषा को जीवित रखने तथा उसका महत्त्व बढ़ाने के लिए इन आदिवासी साहित्यकारों ने रचनाओं में अपनी मातृभाषा का प्रयोग किया है। रामदयाल मुंडा तथा मंगल सिंह मुंडा ने हिंदी और मुंडारी दोनों भाषाओं में एक साथ लघु कहानियों का संग्रह किया है। तथा अन्य दूसरे साहित्यकारों ने भी रचनाओं में चाहे गीत के माध्यम से या वार्तालाप के माध्यम से अपनी मातृभाषा का प्रयोग किया है। रोज केरकेट्टा विवाह से सम्बंधित गीत कहती हैं –

"मुनगा दारू ओनोब नो रे अपा

ओः दुरा किनभर पतर योता ।।

बेटी बिदा तेरोब नो रे अपा

ओः दुरा किनभर येलोंग योता ।।"[32]

(तुमने मुनगे का पेड़ लगाया पिता , घर दरवाजा आँगन प्रकाश से भर गया।

तुमने बेटी बिदा किया पिता, घर द्वार आँगन अन्धकार से भर गया)

एलिस एक्का ने अपनी कहानियों में सादरी भाषा का प्रयोग किया है जो आदिवासी इलाकों में संपर्क की भाषा है, बाजार की भाषा है। इस भाषा का प्रयोग करते हुए गीत पर जोर देते हुए लिखती हैं –

"नाचले गाले जीव कर दुःख बिसराय जायला । और हमरे मन तो नाचेक गावेक लेगीन जनमें लेई ही । जहाँ गीत गान नीहीं हुवां कोनो सुख नीही।"[33]

(नाचने गाने से मन का दुःख दूर होता है , और हमलोग तो नाचने गाने के लिए ही जन्म लिए हैं। जहाँ नाच–गाना नहीं वहाँ कोई सुख नहीं)

आदिवासी साहित्य लेखन में आदिवासी साहित्यकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने छोटानागपुर के आदिवासी समाज के जीवन दर्शन को, समाज की समस्याओं को अपने लेखन से अभिव्यक्ति दी है। जल, जंगल और जमीन के संघर्ष तथा अतीत की यादों के साथ–साथ इन साहित्यकारों ने समाज के ज्वलंत समस्याओं की ओर भी पाठक का ध्यान उन्मुख किया है। आदिवासी मुद्दों को साथ लेकर चलने वाला आदिवासी साहित्यकारों की रचनाएं जिनमें आदिवासियों की समस्याओं पर ही सिर्फ प्रकाश नहीं डाला गया बल्कि इनके पीछे के कारणों को भी चिन्हित किया गया है। इनकी रचनाओं की एक बड़ी विशेषता इनकी भाषा का सरल और प्रवाहमयी होना है। इस कारण पाठक एक ही बैठक में कहानियों को पढ़ सकता है। साथ ही आंचलिकता इनकी कहानियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जिसके कारण लेखक अपनी रचनाओं में आदिवासियों की परम्पराएं, सामाजिक प्रथाएँ, धार्मिक बोध, स्त्रियों का स्थान, पारिवारिक स्थान, युवक– युवतियों को समाज में ढालने के तौर तरीके को उकेरते हुए विभिन्न मुद्दों को गंभीरतापूर्वक उठाने में सफल रहे हैं।

सन्दर्भ

[1]जंगल के गीत ,पीटर पॉल एक्का , पृष्ठ संख्या – 113

[2]वही, पृष्ठ संख्या –114 –115

[3]वही, पृष्ठ संख्या –115

[4]वही, पृष्ठ संख्या –116

[5]जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृष्ठ संख्या –106

[6]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –55

[7]महुआ का फूल , मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या –22

[8]वही, पृष्ठ संख्या –30

[9]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–140

[10]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियां, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–34

[11]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियां, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–34

[12]छैला संदु, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या –42

[13]वही, पृष्ठ संख्या –103

[14]वही, पृष्ठ संख्या –51

[15]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–31

[16]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–32 –33

[17]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–139

[18]ए' अ नव कानिको, रामदयाल मुंडा, पृष्ठ संख्या –19

[19]जंगल के गीत, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –88

[20]वही, पृष्ठ संख्या –100

[21]वही, पृष्ठ संख्या –183

[22]वही, पृष्ठ संख्या –125

[23]वही, पृष्ठ संख्या –125

[24]वही, पृष्ठ संख्या –136

[25]वही, पृष्ठ संख्या –145 –146

[26]वही , पृष्ठ संख्या –168

[27]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–31

[28]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–75

[29]वही, पृष्ठ संख्या – 81

[30]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियां, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–34

[31]वही,पृष्ठ संख्या–55

[32]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–73

[33]एलिस एक्का की कहानियाँ, संपादक – वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या –69

अध्याय चार

झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासियों का सांस्कृतिक संकट :–

"टाटा का धुवां, बिरला का काला पानी और कोहिनूर का कचड़ा
मरांडी का ग्रेटर रांची , मुंडा का एमओयू और कोड़ा का जोड़ा
खूंखड़ी, पुटू और करील नहीं उगेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में
पुटकल, कोयनार और मुनगा नहीं फूलेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में

जिंदल, मित्तल, टाटा बिरला और कोहिनूर पहनकर देशी चोला
लोहा, कोयला, ताम्बा, अभ्रक और बोक्साइट खोदकर बेच डाला
तोता, मैना और कोयल नहीं बोलेगी बाबा सुन्दर झारखण्ड में
बाघ, भालू और सियार नहीं गरजेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में

जंगल–झाड़, पहाड़–पर्वत, हरा–भरा सुन्दर झारखण्ड हमारा
नदी–नाला, झील–पोखर, नेता व्यापारियों ने दिया बेच सारा
हवा, पानी और छाया नहीं मिलेगा बाबा सुन्दर झर्खाद में
पोठी, मुगरी और बत्तख नहीं तैरेंगे बाबा सुन्दर झारखण्ड में

गाँव–घर, खेत–खलिहान और बारी–क्यारी का हुआ सौदा
सरना, मसना और ससनदिरी बना विकास के बाजार का सौदा
धान, मडुआ और उरद नहीं पकेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में
सिंगबोंगा, गोमके और पुरखे नहीं बसेंगे बाबा सुन्दर झारखण्ड में

सरहुल, करमा, सोहराई, टुसू और कटनी पर है बड़ा खतरा
अखड़ा, छमड़ा और दलान भी बना अब व्यापारियों का जतरा
ढोल, मांदर और नगाड़ा नहीं बजेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में
पईका, झूमर और सैलो नहीं होगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में

तिलका मांझी , सीदो कान्हू और बिरसा मुंडा का सुन्दर सपना
बाबूलाल मरांडी, अर्जुन मुंडा और मधु कोड़ा ने नहीं माना अपना
जल, जंगल और जमीन कैसे बचेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में?
पुरखों का प्यारा सपना कैसे सजेगा बाबा सुन्दर झारखण्ड में?"[1]

ग्लैडसन डुंगडुंग की इस रचना से स्पष्ट हो गया है कि झारखण्ड के आदिवासियों की क्या स्थिति है? उनकी संस्कृति, उनका अस्तित्व, उनकी अस्मिता कहाँ तक बची हुई है? जिस सुन्दर झारखण्ड का सपना आदिवासियों ने देखा था वह किस प्रकार उनके हाथों से दूर होते जा रहा? यह बड़ी आसानी से इस कविता से समझा जा सकता है।

आदिवासियों का सबसे बड़ा पहलू सामुदायिकता, स्वायत्ता एवं आत्मनिर्भरता है जो खेती–कार्य, रहन–सहन, रीति–रिवाज, नाच–गान, शादी–विवाह जैसे सभी जगहों पर दिखाई देता है। यह संस्कृति सीधे तौर पर कृषि एवं वन पर आधारित अर्थव्यवस्था से सरोकार नहीं रखती। इसलिए बचत एवं व्यापार को नहीं अपनाया क्योंकि यह उनके सांस्कृतिक मूल्य के खिलाफ है।

मनुष्य संस्कृति के कारण ही पशु–पक्षियों से भिन्न है। संस्कृति ही एक जाति को दूसरी जाति से पृथक करती है। पशु–पक्षियों में भी आहार–विहार की इच्छा पायी जाती है। वे भी समूह में रहते हैं। समूह में रहकर ही भोजन प्राप्त करने के तरीके सीखते, खतरों का सामना करना या बचना सीखते समूह को खतरों से अवगत करते, शत्रु से बचने के लिए युद्ध करते हैं किन्तु उनकी संस्कृति

नहीं होती। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य द्वारा सृजित अभिनव संसार है। अर्थात् प्रकृति के अतिरिक्त जो कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित है वही उसकी संस्कृति है। आचार विचार, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि सभी संस्कृति के अंग हैं।

अशोक सिंह के शब्दों में संस्कृति को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है – **"संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य और समुदाय की उस पूर्णता से है, जिसे वह गढ़ता है और निरंतर विकासमान भी रखता है। संस्कृति–समाज और लोगों के व्यवहार के साथ–साथ उसकी दर्शन चेतना का भी हिस्सा है और कोई समाज अपनी रचना की विधि का विकास किस तरह करता है, यह भी इससे समझा जा सकता है। संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि वह आदमी के सोचने–समझने, देखने और फिर उसे समयानुकूल बना लेने की चेतना भी प्रदान करता है।"**[2] आदिवासी समाज की अवस्था को लेकर जो तरह–तरह की व्याख्याएं दी जाती हैं जिसमें उनकी संस्कृति का विश्लेषण तो किया जाता है लेकिन वास्तविकता से हट कर जो बदलाव हुए हैं उनको दरकिनार कर दिया जाता है।

झारखण्ड के आदिवासियों या झारखण्ड के विभिन्न राज्यों में रहने वाले आदिवासियों का सबसे बड़ा संकट अपनी अस्मिता अपनी पहचान बनाये रखने की है। आज भी विभिन्न मोड़ों पर इन्हें इन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज भी आदिवासियों के प्रति गलत धारणाएं बनी हुई है कि आदिवासी आज भी जंगलों में नंगे बदन, तीर–धनुष लेकर झिंगा– लला– हो– हो करते होंगे। यह धारणा आदिकाल से लेकर अब तक बनी हुई है। वर्तमान में इसका कारण इंटरनेट तथा आदिवासियों से संबंधित कुछ फिल्मों को माना जा सकता है। जो लोग इंटरनेट व फिल्मों के माध्यम से आदिवासियों के बारे में जानते हैं उनके मन में यह भ्रांति बैठना मुमकिन ही है। रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं –

"भ्रांत प्रचार ने बेशक मुख्य धारा के सभ्य सुसंस्कृत समाज के मन में कुछ पूर्वग्रह जमा दिए, हैं कि आदिवासी हिंस्र, बर्बर और 'मानुष मारु' होते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि वे बेहद निश्छल, निरीह और आत्मकेन्द्रित संशक्ति प्राणी है।"[3]

ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – **"आजादी से अबतक आदिवासियों के बारे में यही कहा जाता रहा है कि उन्हें देश की मुख्य धारा में लाना है। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि देश की बहुसंख्यक आबादी आज भी आदिवासियों को जंगली, अनपढ़ और असभ्य व्यक्ति से ज्यादा स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं हैं और अब उन्हें नक्सली कहा जा रहा है। दूसरी ओर तथाकथित मुख्यधारा में शामिल करने के नाम पर आदिवासियों को उनकी भाषा, संस्कृति परम्परा , पहचान अस्मिता और प्राकृतिक संसाधनों से बेदखल किया जा रहा है।"**[4] इतिहास कहता है कि आदिवासियों का जीवन सामूहिकता पर निर्भर है। इनके जीवन में समानता है लिंग भेद नहीं, सहजीविता है। एक तरफ हम कहते हैं कि समानता का अधिकार भारत के संविधान में आने से पूर्व ही आदिवासी समाज में विद्यमान था। इतनी सारी खूबियाँ हमारे आदिवासी समाज में शुरू से ही हैं। समानता, सहभागिता, सर्वसहमति ये सभी मिलकर आदिवासियों का सह–अस्तित्व बनाते हैं और सभी के सहयोग से चरित्र बनता है आदिवासियों का समुच्चय या सहभागिता धनात्मक सोच पैदा करता है। फिर हमें क्यों कहा जाता है कि आदिवासियों को मुख्यधारा में लाना है? या हम क्यों अपने आपको इस मुख्यधारा जैसे शब्द से अलग रखते हैं? सवाल यह उठता है कि इस मुख्यधारा शब्द का अर्थ क्या है? सही मायने में इसकी परिभाषा क्या है? आज जिस तथा कथित मुख्यधारा का अर्थ लोगों के जेहन में है क्या वह नैसर्गिक है? नहीं, यह मानवीय सोच शब्द है जिसके द्वारा आदिवासियों को नीचा दिखाने की हर कोशिश की जा रही है। इस शब्द के सहारे आदिवासियों की संस्कृति उनकी अस्मिता और अस्तित्व को मिटाने की सोची–समझी साजिश चलाई जा रही है। विनोद कुमार का लेख '**आदिवासियों को असभ्य और जंगली मानते थे अम्बेडकर**' में अम्बेडकर आदिवासियों के बारे में कहते क्या हैं – **"बाबा साहब अम्बेडकर संपूर्ण वाड्मय खंड एक के पृष्ठ 72 पर वे कहते हैं –'हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है, ये मूल आदिम जातियाँ इस पुरानी असभ्य स्थिति में रह रही हैं। न केवल वे असभ्य स्थिति में हैं, कुछ जातियों के काम धंधे भी इस प्रकार के हैं कि उन सबको आपराधिक जातियों में वर्गीकृत कर दिया गया है। इसी**

तरह आज की भरी पूरी सभ्यता की अवस्था में भी एक करोड़ तीस लाख आदमी अभी भी जंगलियों की तरह रह रहे हैं। और वंश परंपरागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं।"[5] यहाँ विनोद कुमार ने एक महत्वपूर्ण सवाल खड़ा किया है – सभ्यता की हमारी परिभाषा क्या है? जंगल में रहना क्या असभ्यता की निशानी है? यह सही है कि आदिवासी समूह में कई छोटी–मोटी आबादी ऐसी है जो परंपरागत रूप में खेती बाड़ी नहीं करते। वे घुम्मकड़ी जीवन व्यतीत करते हैं। लेकिन अंबेडकर उस वक्त एक करोड़ तीस लाख लोगों की बात कर रहे हैं, जाहिर है उसमें संताल, मुंडा, पहाड़िया, खड़िया, उरांव आदि आदिवासी जातियाँ शामिल हैं। पहाड़िया राजमहल की पहाड़ियों की ढलानों पर झूम खेती करते थे। संताल तो इतने मेहनतकश और परंपरागत रूप से खेती के अभ्यस्त थे कि अंग्रेजों ने राजमहल की तराई में बसने और खेती करने के लिए प्रेरित किया ताकि वहाँ खेती हो और उन्हें राजस्व मिल सके। यह अलग बात है कि संताल या अन्य आदिवासी जातियाँ भी, यह मान कर चलती हैं कि उन्हें खेत किसी राजा से नहीं मिला। जंगल काट कर उनके पूर्वजों ने खेत तैयार किये, इसलिए वे किसी जमींदार को या कलेक्टर को राजस्व नहीं देंगे। संताल विद्रोह का कारण ही यही था। हम जानना चाहते हैं कि क्या सामूहिकता और समानता में जीवन व्यतीत करना असभ्यता की निशानी है? अगर ऐसा है तो हम आदिवासी 'मुख्यधारा के लोग' न ही कहलाएँ तो अच्छा है। डॉ• रामदयाल मुंडा कहते हैं– "**भौगोलिक हिसाब से झारखंडी या कहें आदिवासी संस्कृति जो कभी 100 प्रतिशत थी, अब सिर्फ 33 प्रतिशत लोगों की संस्कृति रह गई है। इसका मुख्य कारण बाहर से लोगों के आकर झारखण्ड में बसने के कारण हुआ है। यहाँ रहने वाले द्रविड़, आग्नेय भी आदिवासी ही थे, उनका रंग आदिवासियों की तरह था, पर उनकी पृष्ठभूमि अलग थी। उनके समाज की मानसिकता में पूर्वाग्रह था, उनका सोच था कि आदिवासी उनकी तरह हों। कहने का तात्पर्य है कि विभिन्न समुदायों के बीच आदिवासी की पहचान धूमिल हो गई या कहें पहचान खो गई। जहाँ आदिवासियों की जनसंख्या ज्यादा थी, वहां दूसरे समाज की जनसंख्या बढ़कर मुख्य धारा बन गई और चाहे वह कोई भी समाज है, यदि मुख्यधारा से नीचे है तो वह गिरा हुआ ही कहलाता है। जैसे–जैसे आदमी पूर्व की ओर चलता गया उसका अवमूल्यन हुआ। रंग के हिसाब से भी भेदभाव होने लगा। उदहारण के लिए हिन्दू धर्म**

में जहाँ काले रंग के ब्राह्मण को निम्न दृष्टि से देखा जाता था वहां गोरे ब्राह्मण के लिए उसका गोरापन पवित्रता की बात होती थी। इसी तरह दूसरे जगह रहने वाला बनिया हमारे झारखण्ड में रहने वाले बनिया को नीचा ही देखता है।"[6] सवाल यह उठता है कि स्वतंत्र भारत के इतने सालों बाद भी ये अपनी अस्मिता मनवाने में ही लगे हैं ऐसी हालात में अपनी संस्कृति को बचा पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है जो प्रकृति से जुड़ी हुई है। देश के प्रथम प्रधानमंत्री ने आदिवासियों को यह कहा था– "**अगर आप तड़प रहे हैं तो देश के हित में तड़पें, यानी अपनी जमीन, जंगल खनिज नदियों और पहाड़ों को हमें दे दो और देशहित के नाम पर तड़प–तड़प कर मर जाओ।"**[7] जरा सोचिये आदिवासी लोग जमीन को अपनी माँ मानते हैं, अपनी माँ के बारे में इस तरह सुनने में ही अपराध बोध हो रहा है। ऐसी स्थिति में भला कोई माँ का सौदा कैसे कर सकता है? और अगर ऐसा होता है तो क्या उनकी संस्कृति बच सकेगी? आदिवासियों के सामने जो सांस्कृतिक संकट मंडरा रहा है वह इससे मुक्त नहीं हुआ है। झारखण्ड अलग राज्य की घोषणा के बाद झारखंडियों ने जिस उत्साह से उसका स्वागत किया था, वनांचली संस्कृति के लोगों ने उनके सपनों के झारखण्ड को चकनाचूर कर दिया। बाबूलाल मरांडी की सरकार ने औद्योगिक नीति बनाकर विस्थापन का भयावह बीज बोया। अर्जुन मुंडा की सरकार ने देशी–विदेशी कंपनियों के साथ एम. ओ.यू. कर खुद की संस्कृति, पहचान, अस्तित्व और आजीविका के संसाधन को दांव पर रख दिया है। यह सिलसिला तब से लेकर आज तक बना हुआ है।

समृद्धि बराबरी खुशहाली और सम्पूर्णता लाने का दावा करने वाली विकास की नीति ने विनाश के जो बीज बोए, हैं उससे अभाव, असमानता और भुखमरी का बोलबाला हुआ है। विकास के नाम पर सही मायने में विनाश हुआ है। जंगल जमीन की लूट के साथ प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक दोहन ने इस धरती की हरियाली मिटा दी है। इन संदर्भों में आदिवासियों की जो समस्याएँ हैं, उनके संबंध में झारखण्ड में एक पत्रकार के रूप में अपनी पहचान बनाने वाली तथा आदिवासियों के सामाजिक जीवन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाली वासवी लिखती हैं कि – **"आज आदिवासियों के हाथों से जंगल, जमीन और औरत निकलती जा रही है।**

झारखण्ड में आजादी के आधी सदी के बाद विस्थापन, पलायन, जंगल–कटाई, सूखा, अकाल, बंजरीकरण की नई समस्याँ, कुंडली मारकर बैठी हैं। औद्योगीकरण के नाम पर खनिज सम्पदाओं के अवैज्ञानिक दोहन और लूट, इससे काला धन की कमाई करने वाले शासन प्रशासन के लागों ने झारखण्ड को तबाही के कगार पर ला खड़ा किया है। समस्या आदिवासियों को नकारने की प्रवृत्ति और हीन बताने की भावना से ज्यादा गंभीर हुई है।"[8]

चूँकि आदिवासी संस्कृति प्रकृति पर आधारित है। जल, जंगल और जमीन का सौदा कर आदिवासी संस्कृति को नहीं बचाया जा सकता है। आदिवासियों की इस प्रवृत्ति को भांप कर बहु राष्ट्रीय कंपनियों में से एक आर्सेलर मित्तल के उपाध्यक्ष रेमी बायर ने सी. एस. आर. कार्यक्रम की घोषणा करते समय कहा कि – "**मित्तल कंपनी के मालिक लक्ष्मी नारायण मित्तल आदिवासियों की संस्कृति के बारे में बहुत चिंतित है इसलिए मित्तल कंपनी आदिवासियों की संस्कृति की पुनर्स्थापना पर काम करेगी।"**[9] यह सिर्फ लोली पोप पकड़ाने का काम है और लोली पोप की आड़ में मित्तल कंपनी पहले आदिवासी संस्कृति को खत्म करेगी और इसके पुनर्स्थापना का नाटक करेगी। लेकिन बाजारू संस्कृति में साराबोर लंदन निवासी लक्ष्मी नारायण मित्तल को आदिवासी संस्कृति के बारे में बात करना शोभा नहीं देता क्योंकि आदिवासी संस्कृति उनके संस्कृति से सरोकार नहीं रखती है। झारखण्ड के सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग इस बारे में कहते हैं – "**आर्सेलर मित्तल कम्पनी को सचमुच में आदिवासियों की संस्कृति एवं अस्मिता के बारे में चिंता है तो उन्हें आदिवासियों की जमीन छीनना बंद कर देना चाहिए क्योंकि 'आदिवासी संस्कृति' तभी तक बनी रहेगी जब तक जल, जंगल, और जमीन आदिवासियों के पास है। प्राकृतिक संसाधनों को बाजार में बेचकर आदिवासी संस्कृति को नहीं बचाया जा सकता है।**"[10]

आदिवासी जनजीवन का उनकी संस्कृति के साथ गहरा रिश्ता है। लेकिन जिस तरह से पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता आदिवासियों की संस्कृति को प्रभावित कर रही है, वह उससे अछूती नहीं है। ऐसे में एक सवाल उनके अस्तित्व और अस्मिता पर उठता है। उनके संरक्षण की मुहिम पर प्रश्न उठता है। समय

बीतने के साथ लोकगीतों, लोकनृत्यों के प्रति हमारी आस्था कम हुई है। पारंपरिक संगीत की जगह पाश्चात्य शैली के म्यूजिक ने ले ली है। आज लोक गीतों का चलन ही मिटता प्रतीत होता है। परंपरा और संस्कृति के नाम पर आदिवासी जनजातियों में भी इसे पर्व–त्योहारों तक सीमित पाया जाता है। गाँव से शहर और शहर से महानगरों की ओर लोगों के आकर्षण ने अपनी संस्कृति एवं परंपरा से पीछा छुड़ा लिया है। लेकिन फिर भी लोकगीतों में लोकजीवन के सभी तत्व मौजूद होते हैं। आदिवासियों के लोकगीत उनके लोकजीवन को जानने का एक सरल माध्यम है। वास्तव में लोकगीत, लोक में प्रचलित गीतों को कहा जाता है जिनमें उस समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य महत्वपूर्ण पक्षों का समावेश होता है। यह सच है कि लोकगीतों में प्राचीन परंपरा से अब तक के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की दशा निहित होती है। गाँव के बड़े–बुजुर्ग भी अपनी लोक–कथाओं के द्वारा अपनी प्राचीन उन्नत संस्कृति को जीवित रखते थे। आखिर बुजुर्ग हमारे साथ कब तक रहेंगे? उनके जाते ही प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराएं उन्हीं के साथ दफन हो जाएंगे, क्योंकि वर्तमान युवापीढ़ी में पश्चिमी सभ्यता का इतना प्रभाव है कि आदिवासी संस्कृति की जो मूल पहचान है भाषा उसे वे दिनों दिन भूलते जा रहे हैं। जंगलों के बीच गाँव देहातों तक कैसे हिंदी भाषा वर्चस्व की भाषा बनती जा रही है। हिंदी भाषा का जबरदस्त प्रभाव गांवों की नयी पीढ़ी पर ऐसी पड़ रही है कि उन्हें अपनी भाषा बोलने में शर्म आती है। टूटी–फूटी ही सही पर हिंदी भाषा का प्रयोग ही करेंगे। गाँवों में हिंदी भाषा कैसे क्षेत्रीय भाषाओं को दबाती जा रही है यह सहज ही देखने को मिलता है। बहुत से आदिवासियों ने अपनी पहचान को त्याग दिए हैं और त्याग दे रहे हैं, जैसे केरकेट्टा एक गोत्र है जो उरांव, मुंडा और खड़िया तीनों में होते हैं किन्तु आजकल केरकेट्टा का विकृत रूप "किरकाता" भी देखने को मिलता है, जिसका कोई अर्थ नहीं है और उन्हें न आदिवासी होने से मतलब है और न ही गोत्र से। इससे साफ है उसकी कोई पहचान नहीं है। ऐसे कई हैं जो अपनी भाषा छोड़ते जा रहे हैं, अपना धर्म और रीति–रिवाज छोड़ते जा रहे हैं, अपनी संस्कृति और सामाजिक, राजनीतिक संस्थाएं छोड़ते जा रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा ईसाईयत के प्रभाव से है। कुछ हद तक यह सत्य भी है क्योंकि ईसाई बने आदिवासियों ने अपनी संस्कृति की कई बातों को

छोड़ दिया है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। ईसाईयों की तुलना में गैर ईसाईयों की संख्या भी बहुत है वे अपनी पहचान क्यों छोड़ रहे हैं? कुछ लोगों का कहना है कि इन सबके पीछे आर्थिक–राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव हैं। बाहरी ताकतों और शक्तिशाली पराये जातीय समूहों से घिरे होने के कारण उनके दबाव से आदिवासी अपनी पहचान, धर्म संस्कृति भाषा आदि छोड़ने के लिए मजबूर हुए हैं। यह सत्य भी है। लेकिन आदिवासियों द्वारा अपनी संस्कृति की रक्षा हेतु कोई विशेष पहल नहीं दिखाई देती है। इस सम्बन्ध में डॉ. वीर भारत तलवार महत्वपूर्ण सवाल उठाते हुए कहते हैं कि **"आदिवासी अपनी पहचान क्यों छोड़ते जा रहे हैं? शिक्षित आदिवासी युवक–युवतियाँ अपनी जातीय पहचान से क्यों शरमाते हैं? अपनी भाषा संस्कृति समाज के प्रति उनमें हीनता की भावना क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर खुद देते हुए कहते हैं – बाहरी लोग जो शक्तिशाली हैं और अधिक सुसंस्कृत और सभ्य समझे जाते हैं, आदिवासियों के समाज को नीची नजर से देखते हैं। बाहरी लोगों की नजर में आदिवासी असभ्य और असंस्कृत हैं। उनकी नजर में आदिवासियों का धर्म, रीति–रिवाज, सामाजिक संस्थाएं, पर्व–त्योहार और भाषा साहित्य सब पिछड़ा हुआ है, निम्न कोटि का है, असभ्य अवस्था में है। वे अपनी बातचीत से और अपने बर्ताव से आदिवासी समाज के प्रति घृणा प्रकट करते रहते हैं और अपने समाज की हर चीज को श्रेष्ठ घोषित करते हैं।"**[11] उन्होंने यह भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि – **"शिक्षित आदिवासी देखते हैं कि जब उनके समाज में हर चीज घृणित है, उनका धर्म रीति–रिवाज, संस्कृति और भाषा सब पिछड़ी हुई और असभ्य अवस्था में है – तो वे अपने समाज पर गर्व कैसे करें? जब दुनिया में आदिवासियों की किसी भी चीज का कोई सम्मानप्रद स्थान नहीं है तो अपनी भाषा संस्कृति और समाज पर गर्व कैसे करें? वे अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि समाज में और देश में हर जगह हिंदी, बांग्ला, अंग्रेजी आदि भाषाओं का सम्मान है, इनके माध्यम से हर काम होता है, लेकिन आदिवासी भाषाओं के माध्यम से नहीं । वे देखते हैं जो लोग अधिक सभ्य और सुसंस्कृत हैं, अधिक संपन्न और प्रतिष्ठित हैं – वे आदिवासी भाषाएँ नहीं बोलते।"**[12] रोज केरकेट्टा की **घाना लोहार** का शीर्षक कहानी की सोमारू को हम देखते हैं। सोमारू गैर आदिवासी पिता तथा आदिवासी माँ के कोख से जन्मा है। जब सम्पति पर हक के सवाल आने लगे तो उनके ऊपर किस तरह का खुद का तथा

अपनी माँ की जाति यानी आदिवासी जनजाति के प्रति जो हीनता का भाव पैदा किया गया है वह है – **"वे उसे 'छोटी जातवाली के पेट का' कहकर बुलाने लगे। इन सिंघों की नजर में उरांव, मुंडा, खड़िया, लोहरा सब छोटी जात थे। उनकी औरतों को उठा लेना अब भी उनका हक बनता है। सोमारू हट्ठा–कट्ठा था। घर का हार–फार से लेकर बाहर का बाजार–हाट तक वह संभालता था। इस नए संबोधन से वह मर्माहत हुआ। वह किसी की ओर आँख उठाकर देखने से बचने लगा। बातें करने से कतराने लगा।"**[13] आदिवासियों की भाषाओं, उनकी जाति और उनकी संस्कृति के प्रति जो हीनता की भावना है या पैदा की जाती हैं जिसके कारण शिक्षित लोगों को अपनी भाषा का प्रयोग करने में तथा खुद को आदिवासी कहलाने में शर्म आती है। उन्हें अपनी भाषा बोलने में हीनता का बोध होता है। इसे उनकी सांस्कृतिक पराजय कहा जा सकता है, और आदिवासी समाज के लिए यह एक महा सांस्कृतिक संकट है ।

आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन किस तरह उनके हाथों से निकलते जा रहे हैं। यह इन आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में सहज ही देखने को मिलता है। पीटर पौल एक्का की '**बड़ी नदी छोटी नदी**' कहानी के माध्यम से उस आदिवासी समाज से परिचित हो सकते हैं जो विस्थापन का दर्द झेल रहा है। जो अपने जल, जंगल, जमीन से विस्थापित हो रहा है। विस्थापन ने इनके खुशहाल जनजीवन को तहस–नहस कर दिया है। दादा जी इस कहानी में भरी दुपहरिया में जामुन की ठंडी छाँव में बैठे, सुस्ताते अपने लाड़ले, बबुआ को वर्षों पहले की कथा सुनाते थे जो इस प्रकार है –

"मरंग गडा–दोरे–कउबउतना

एलारे गतिअलड. केसेद्जना

हुडीडरू गडा दोरे एबेतोबेना

बपारे संगाअलड. तराजना

मर हो गतिअलड. परोमेगेया।"[14]

हिंदी अनुवाद – मेरे मित्र, बड़ी नदी किनारा तोड़कर बह रही है, देखो हमारी राहें रोक दी गयी है, हमारे पांव रोक दिये गये हैं। फिर भी मेरे मित्र, चलो नदी के उस पार चलें।

परती जमीन शीर्षक कहानी में दो पहाड़ियों के बीच में बाँध बनने के कारण बांध के ऊपर की ओर के कई गाँव खाली करने पड़े थे। उनमें से बहुतों को बाँध के काम पर लगाया गया था, कुछ अन्यत्र चले गए थे। जमीन डूबने का मुआवजा के नाम पर थोड़ी सी रकम लोगों को दी गई थी। इस तरह कहीं बाँध बनाने के उद्देश्य से तो कहीं कोलियरी खदान खोलने के उद्देश्य या फिर बहुराष्ट्रीय कम्पनी स्थापित करने के उद्देश्य से विस्थापन की समस्या आदिवासियों को झेलनी पड़ी है क्योंकि उन्हीं के इलाकों में खनिज संपदाओं का भंडार है। ऐसे हालात में मेहनत मजदूरी और दर–दर की ठोकरें खाने के सिवाय उनके पास कुछ है ही नहीं। अपना पारंपरिक रीति–रिवाज उनकी यहीं से छूटने लगती है। कहानी में एक पात्रा के माध्यम से लेखक कहते हैं – "**बाँध बनने के कारण जमीन डूब गई थी तो वहाँ से भागना पड़ा था । अब खेती बारी तो होती नहीं । स्कूल तब से ही छूट गया । अब तो मेहनत मजदूरी करनी है।**"[15] इस सम्बन्ध में वाल्टर भेंगरा तरुण अपनी कहानी संगी में कहते हैं– "**हमारे छोटानागपुरी भाई वर्षों पहले असम बंगाल और भूटान के चाय बागानों तथा अंडामन्स–निकोबार टापू के जंगलों में काम की खोज में गए और वहीं बस गए। वहाँ जाकर भी उन्होंने यहाँ की अपनी पहचान और संस्कृति को बरकरार रखा। किन्तु अब... अब ऐसी बात यहाँ छोटानागपुर में ही नहीं रही। आज बड़े–बड़े कारखानों, खदानों और बड़ी–बड़ी योजनाओं के नाम पर यहाँ के आदिवासी उखड़ने लगे हैं। हर रोज सैकड़ों आदिवासी यू.पी., दिल्ली, पंजाब, नागालैंड और कहाँ कहाँ नहीं ...रोजी–रोटी की तलाश में जा रहे हैं। यहाँ के लोग कहाँ–कहाँ भटक रहे हैं और बाहर से लोग आकर यहाँ के लोगों की जमीन आदि हड़पने लगे हैं जो उनकी अपनी खुंटकट्टी जमीन है। कितनी बड़ी विडम्बना है यह।**"[16] वहीं हम रूपलाल बेदिया की कहानी **'शहर के दाग का दान'** में देखते हैं कि किस तरह से साजिश के तहत मंगल हंसदा का जमीन अपने हाथ से निकलता है और उसे पता भी नहीं चलता है। वह जानता है कि उसकी जमीन ही

उसकी पहचान है उसका अस्तित्व है। कई प्रलोभनों के बावजूद वह अपनी जमीन नहीं बेचता। किन्तु समय के बीतने के साथ साजिश का शिकार होता है और भावुकतावश अपनी जमीन बजरंगी सिंह को सौंप देता है। इस कहानी में दुखद पहलु यह भी है कि एक आदिवासी को अपने जमीन पर से बेदखल करने के लिए बिचौलिए के रूप में एक आदिवासी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है, क्योंकि छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम 1908 के तहत कोई गैर आदिवासी किसी आदिवासी की जमीन नहीं खरीद सकता। इस प्रकार मंगल हंसदा अपने पुरखों की जमीन से हाथ धो बैठता है जिसे वह वर्षों से शहर के बीचोबीच दाग ही सही पर अपनी जमीन के रूप में अपना अस्तित्व संभाल कर रखा था वह अब कंक्रीट के जंगल में तब्दील हो गया। विस्थापन की पीड़ा झेले हुए अनुभवों को साझा करते हुए ग्लैडसन डुंगडुंग कहते हैं – "**सिमडेगा का प्रसिद्ध 'केलाघाघ डैम' ने मेरे परिवार को बर्बाद कर दिया। लगभग 20 एकड़ उपजाऊ जमीन डैम में डूब गया लेकिन हमें सिर्फ आधा मुआवजा मिला और शेष राशि सरकारी खजाने में अभी तक पड़ा हुआ है। खेती की जमीन के बदले किसी तरह की जमीन नहीं दी गई और न ही पुनर्वास की व्यवस्था की गई। यहाँ से जीने की जो संघर्ष शुरू हुई आज भी जारी है।**"[17] वे कहते हैं स्वयं विस्थापन की पीड़ा झेलने एवं झारखण्ड में डैम, स्टील कारखाना एवं कोयला खदानों से विस्थापित लोगों की पीड़ा से रूबरू होने के बाद यह लगा कि अब इस अन्यायपूर्ण विकास प्रक्रिया के खिलाफ उठ खड़े लोगों को साथ देने का समय आ गया है। फिलहाल वे सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए हैं और अन्यायपूर्ण विकास प्रक्रिया के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं। यह प्रवृत्ति हर विस्थापितों या झारखंडियों में होती तो बहुत हद तक अपनी पहचान और संस्कृति को बचाया जा सकता था।

आदिवासियों के आर्थिक जीवन में किस्सा–कहानी जीवन के बीच की अभिव्यक्ति है। प्रकृति और काल मिलाकर आर्थिक जीवन बनता है। उदाहरण – धान गेहूं इत्यादि उपजाने का अपना–अपना समय है साथ ही अलग–अलग प्रकृति भी। यहाँ खेती–बारी शिकार इत्यादि में अनुष्ठान होता है। अब धीरे–धीरे आदिवासी संस्कृति बदल रहा है। इस संस्कृति के आर्थिक पहलु बदल रहे हैं। जीविका

के रूप में आदिवासियों के मुख्य साधन खेती–बारी कम हो रहे हैं। इसका सीधा असर आदिवासी संस्कृति के आर्थिक स्वरुप पर पड़ा है। खेती–बारी के अवसरों पर होने वाला पूजा–पाठ लुप्त होते जा रहा है।

पर्व–त्योहार, रीति–रिवाज एवं मान्यताएं आदिवासियों के जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। सरहुल, करम और सोहराई जैसे पर्व आदिवासियों के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। ये त्योहार आज भी आदिवासी धूमधाम से मनाते हैं।

सरहुल– सरहुल को संकल्प का त्योहार कहते हैं। यह नया साल भी कहलाता है। इस दिन सखुआ पेड़ के नीचे धान, मडुआ इत्यादि रखते हैं ताकि आर्थिक जीवन ठीक हो। इस अवसर पर प्रकृति की पूजा होती है। इसमें वन देवता की पूजा की जाती है। जो मनुष्य को फल–फूल देने में मदद करते हैं। वे फल–फूलों की रक्षा करते हैं।

करमा – करमा आदिवासियों का मुख्य त्योहारों में से एक है इसे सब आदिवासी परिवार मिलजुल कर मनाते हैं। पर्व के नाम पर खाते–पीते, नाचते–गाते और आनंदित होते हैं। इस अवसर पर कुंवारियों में ज्यादा उत्साह दीखता है। वे उपवास कर करमा डाली की उपासना करती हैं। वे अच्छे पति और स्वस्थ संतानों के लिए प्रार्थना करती हैं।

सोहराई – सोहराई मवेशियों का त्योहार है। मनुष्य मवेशियों की कमाई खाता है। अतः वर्ष में एक बार वह आदर और सम्मान करता है। इस दिन मवेशियों को भात और उड़द का दाना खिलाया जाता है । यह मनुष्य की खुशी के साथ पशुओं की खुशी का त्योहार है। एक निर्धारित दिन पर सोहराई त्योहार मनाया जाता है।

ये त्योहार आदिवासियों के लिए खास होते हैं। यही वो त्योहार हैं जो आज तक गाँव घरों में बड़ी उल्लास के साथ मनाया जाता है किन्तु कई ऐसे जगह भी हैं जहाँ पर औद्योगिकीकरण या पूंजीवादी व्यवस्था के कारण उनको विस्थापित होना पड़ा है। ऐसे में उनकी एकता भंग हुई है। उनकी सामूहिकता बरकरार नहीं रह गयी है जिससे कई इलाकों में इन पर्व–त्योहारों के साथ आदिवासियों को रीझ रंग करते नहीं पाया जाता है। **गाँव घर के लोग** कहानी में भी आदिवासियों का

उन्मुक्त सांस्कृतिक जीवन देखा जा सकता है जो अब अतीत की धरोहर मात्र बन गया है – **"सबकुछ कितना खुला–खुला था। करमा, सरहुल, सोहराई के वे सुनहले दिन, हँसते गाते युवक, अखाड़े में झूमती–नाचती बालाएं, बड़े–बूढ़ों का घर–घर में दो–एक दोने की मदिरा। कितना कुछ था।"**[18]

पीटर पौल एक्का का उपन्यास जंगल के गीत में आदिवासियों का मुख्य जनांदोलन उलगुलान तथा रीति–रिवाजों का बारहों महीने में आने वाले विभिन्न उत्सवों का जिक्र है जिसमें कुछ ही ऐसे रीति–रिवाज संस्कृति व त्योहार बचे हैं जिसको वे बनाये रखे हैं। कदलेटा जो धान की रोपनी के साथ जुड़ा हुआ हैं। कदलेटा अनुष्ठान के बाद ही धान की रोपनी शुरू होती थी किन्तु आजकल जलवायु परिवर्तन, मौसम की अनिश्चितता इन सभी को ध्यान में रखते हुए जैसे ही बीड़ा (धान का पौधा) तैयार होता है वैसे ही बानगाड़ी कर रोपनी शुरू कर दिया जाता है। उनकी कहानियों में भी देखा जाय तो दैनिक जीवन से लेकर आदिवासियों के जो उत्सव थे उनका चित्रण सजीव रूप में देखा जा सकता है – **"तब खूब घने जंगल हुआ करते थे। सखुए के लम्बे, हँसते दरख्त एक दूसरे से सटे अपने भाग्य को इठलाते थे। जंगली जानवरों की अपनी अनदेखी दुनिया थी। उन घने जंगलों के बीच वर्षों की मेहनत से बनाये दो–चार खेत होते थे। रहने की छोटी–छोटी झोपड़ियाँ, लिपे–पुते घर। नदी किनारे की बावली, पास की चट्टानों में धान सुखाया जाता, चावल बनाये जाते। हर शाम सखुए के लम्बे, पुराने, बुजुर्ग दरख्त तले मांदर बजाया जाता, ढोल डिमडिमाते, पर्व–त्योहारों के दिन लोग मिलते, दो–एक दोने की हंड़िया बंटती, लोग गाते थे, झूमते थे, परी जैसे जंगल की बेटियां एक–दूसरे की कमर में हाथ डाले बेसुध नाचती थी। सरहुल, करमा में गाँव के करीब सखुए के लम्बे, भूरे दरख्त तले देवताओं को समर्पित चट्टानों के इर्द–गिर्द सिंगबोंगा की आरती उतारी जाती।"**[19]

आदिवासियों की एक अलग उन्नत संस्कृति रही है। उनका सब कुछ नष्ट हो रहा है ऐसे में जो माहौल आदिवासियों के गाँव का तैयार हुआ है वह इस प्रकार है – **"शहर से लोग अब भी उस इलाके में आते हैं। कोई सैलानी की तरह, कोई पत्रकार बनकर, कोई महज दर्शक बनकर। कोई थोड़ी–सी सहानुभूति छोड़ जाते हैं,**

ज्यादेतर ऐश करने आयेंगे, यहाँ सब कुछ कितना सस्ता मिलता है– शराब, जवानी। लोग फोटो उतार कर चले जायेंगे, लोग पढ़ेंगे, भुला देंगे। कभी यहाँ घोटुल हुआ करते थे, लड़के–लड़कियाँ एक साथ रहते, सीखते थे, कभी यहाँ बीहड़ जंगल थे, हँसते–मुस्कुराते वनफूल, खुला–खुला आसमान, उन्मुक्त, बेफिक्र पंछी हुआ करते थे, हँसते थे, गाते थे, देर रात गये मांदर बजते, ढोल डिमडिमाते, परियों–सी लड़कियाँ नाचतीं थीं। सलफी हंड़िया के भरपूर दोने थे। छोटी–सी दुनिया थी बेहद खुशहाल।"[20]
आदिवासियों की इस दुनिया को देखने लोग आते हैं, चले जाते हैं लेकिन उनकी न वह खुशहाल दुनिया बची है न उनकी अनछुई परछाईयां दिखाई देती हैं जिसे आदिवासी सदियों से चुपचाप, खामोश, दिल की अंदरूनी गहराइयों में संजोये आ रहे हैं।

युवागृह – घोटुल प्रथा जहाँ युवक–युवतियों को एक साथ रखकर सब प्रकार का ज्ञान दिया जाता था। यह उनका प्रशिक्षण स्थल माना जाता है। यह प्रथा धुमकुड़िया के नाम से भी जाना जाता था। हर गाँव में हमउम्र लड़के और लड़कियों के लिए अलग–अलग समाजीकरण और विद्या सीखने की स्वीकृत संस्था थी। गाँव के लड़के–लड़कियाँ ही इस संस्था के सदस्य होते थे। यहाँ युवावर्ग के आपसी समाजीकरण के साथ पारस्परिक ज्ञान का आदान–प्रदान किया जाता था जो सबसे प्रचलित तरीका माना जाता था। गाँव के अविवाहित नवयुवक–युवतियाँ विभिन्न प्रकार के कार्यों में अपने समुदाय की मदद करते थे। गाँव में कोई पर्व हो या फसल रोपने का काम ये लोग इनमें मिलजुल कर सहयोग करते थे। घोटुल के भीतर का निर्दोष वातावरण, यहाँ रहकर स्त्री–पुरुषों की समानता के वातावरण में अपने जीवनसाथी का चुनाव और प्रकृति की खुली गोद में सामूहिकता का भाव, ये आदिवासी समाज की ऐसी बातें थीं जिन्हें रूढ़ियों से ग्रस्त हमारा आज का समाज बहुत पीछे छोड़ चुका है।

घोटुल का बंद होना आदिवासियों को कितना अखरता है। उनके मन में कितना आक्रोश और उदासी है, वे कितने असुरक्षित हैं उसे **'अनछुई परछाइयाँ'** कहानी से समझ सकते हैं। जहाँ घोटुल पर परधान जी का राज चलता है। घोटुल को स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया है। जिसमें गाँव के बच्चों की

पढ़ाई शुरू की जाएगी। पूरन और पूनो इस बात का मूक विद्रोह करते हैं लेकिन कोई ठोस कदम नहीं ले पाते हैं। उन भोले–भाले आदिवासियों की पीड़ा का लेखक के इन शब्दों से पता लगाया जा सकता है–**"उस दिन नदी के किनारे पूनो और पुरन मिले दोनों ही उदास थे। नदी की पतली धारा में न उतना जोर था, न रौनक। आगे ऊँची–नीची पहाड़ी शुरू हो जाती थी। कभी सखुए के काले, डरावने, घने जंगल थे। पूनो के देखते–देखते वह सब उजड़ने लगा था। अब जहाँ तहां काली चट्टानें दिखने लगीं थी। पुटुस की झाड़ियाँ फुदकने लगी थी। ऊपर पहाड़ की चोटी की ओर भागती पगडंडियां अब साफ दिखने लगी थी। तब घर से निकलते ही चार–तेंदू के पेड़ों में वे चढ़ जाती थीं, घंटे दो घंटे में कितना कुछ जमा हो जाता था। अब कितना दूर चलना पड़ता है दिनभर भटकने के बाद टोकरियाँ खाली रह जाती हैं। जंगल के कपड़े एक–एक कर उतरते जाते थे, और उतरते जाते थे कपड़े उसी तरह उन भोले–भाले, मासूम, सरल आदिवासियों के ।"**[21]

'अब घोटुल तो बंद हो गया !' पूनो लम्बी आहें भरते कहती है। 'बंद होने दे, हम–तुम तो उसी तरह मिलते रहेंगे।' यहाँ भले ही घोटुल प्रथा समाप्तप्राय है लेकिन उसके बाद भी आदिवासियों की जिजीविषा बनी हुई है। घोटुल के बंद होने की आशंका तब से होने लगी थी जब **"रेस्ट हाउस से शहरी बाबू तब गाँव की ओर निकलने लगे थे। परधान जी के यहाँ या घोटुल में टिकते। घोटुल की जिनगी तो तभी से टूटने लगी थी। कितने शोहदे, बेहया हो गये थे वे। रात में इधर–उधर चार्ट लेकर घूमते, घोटुल में सोये लड़के–लड़कियों को देखते–झांकते, कभी हाथ तक लगा देते, पैसे का लोभ दिखाते, शहर ले जाने का वादा करते, अपना काम निकालते थे।"**[22] इतना ही नहीं धीरे–धीरे मंड़ई की रुपरेखा भी बदलने लगी थी –**"शहरी बाबू ज्यादा आने लगे थे। सेठ–साहूकारों के नौका रास्ते में पड़े रहते। शहर से आये बाबू गाँव की लड़कियों को बेहया से देखते रहते, हँसते, चुहल करते, भद्दी–भद्दी बातें करते। दूर से आये सैलानी रेस्ट हाउस में रुकते, भरे–भरे, खुले, अधखुले नारी तन का फोटो उतारते, सिगरेट फूंकते, पान चबाते पैसे की शोहरत दिखाते। मंड़ई में पहलेवाला खुलापन, आजादी, उन्मुक्तता, सहज–सुलभ सादगी, सुन्दरता नहीं रह गयी थी ।"**[23] इन सबके

बीच जो अतीत में पीछे छूट गया वह है घोटुल की वास्तविक स्थिति जिसे पूनो बहते हुए जलधारा को देखकर अतीत में तलाशती है –**"खुले आकाश तले, खुली धरती के, बिलकुल खुले–खुले से बेफिक्र, उन्मत लोग। तब शाम होने के पहले ही कोई लड़की घोटूल में झाड़ू दे जायेगी, कोई तंबाकू के पत्ते तोड़ लाएगी, दो–चार लड़के जलाने के लिए सूखी लकड़ियाँ जमा कर देंगे। खाकर साढ़े आठ–नव बजते ही सब कोई झुण्ड–के झुण्ड इकट्ठे हो जाते थे। लड़के–लड़कियों की अलग–अलग टोलियाँ कभी–कभी मिले–जुले दल। सहज, आत्मीयता, अपनेपन में निस्संकोच कमर, कन्धों में हाथ लपेटे किस खूबसूरती में नाचते थे। आधी–आधी रात तक सुध–बुध खोये उनके पैर थिरकते रहेंगे। गीतों की कड़ियाँ छोटी–छोटी, खुद–ब–खुद दिलों से उभरती जायेगी। एक अनोखे, तिलस्मी लय में झूमते लोग, सधे, अचूक कदम, पहाड़ी बालाओं के लचकते बदन, बलखाती कमर, एक सहज सुलभ, मादक लहर उठती है, गिरती है।"**[24] घोटुल का यह रीझ रंग उनकी सांसों में बसता था।

आदिवासियों में जंगल और जल के प्राणियों को शिकार खेल कर प्राप्त किया जाता है। यह उनके मनोरंजन का अंग भी हुआ करता था। मछली मारना सेन्द्रा करना उनके मनोरंजन का ही अंग है। शिकार का खेल व्यक्तिगत स्तर पर अथवा एक–दो परिवार मिलकर किसी भी समय खेला जाता है। चूँकि शिकार खेलना सभ्यता की एक सीढ़ी है और लोककथा से संबंधित है इसलिए अब पहले जैसे जंगल न होने पर तथा जंगली जानवर के न होने पर भी त्योहारों में सामूहिक समारोही शिकार का खेल होता है। यह सिर्फ इस यादगारी के लिए होता है कि लोग शिकार पर अपनी जीविका के लिए निर्भर रहते थे। **'डाक बंगला'** कहानी में मनोरंजन के रूप में शिकार पर जाना उनके जीवन से जुड़ा एक पहलू था –**"वे छोटे–मोटे शिकार की तलाश में इधर–उधर भटकते, तब वह किसी चट्टान में बैठा पहाड़ी अंचल को निहारता, पहाड़ियों की ऊंचाई से छोटे–छोटे सीढ़ीनुमा खेतों को झांकता, हँसते मुस्कुराते, खिलखिलाते जंगली फलों को ढेर सारे बटोर लाता।"**[25] फग्गु सेन्द्रा जो फागुन के उत्सव में शिकारी किया जाता है। इसमें धुमकुड़िया के सभी नौजवान एक साथ शिकारी के लिए जाते हैं। इस क्षण का पेल्लो एड़पा की युवतियों

की सहभागिता दिखाते हुए उपन्यासकार पीटर पॉल एक्का कहते हैं – "**अच्छा शिकार मिल जाए तो दो चार दिनों का अच्छा गुजारा हो जायगा। साथ ही फग्गु की रौनक भी बढ़ जायगी। बड़े–बड़े अरमान सजाए पूरा दल जब तीर–धनुष , बल्लम, बरछी, कुल्हाड़ी लिए हो हल्ला मचाते निकला तो पूरे वन्य प्रान्त में उल्लास और उमंगों के रंग बिखर गए। सजी संवरी युवतियां उन्हें फग्गु सेन्द्रा में भेजते अजीब खूबसूरत लग रही थीं।**"[26] रोज केरकेट्टा ने मनोरंजन का महत्वपूर्ण पहलु अपनी कहानी में दिखाया है । मनोरंजन का यह पहलु शायद ही किसी ने किया हो। रोज केरकेट्टा लिखती हैं– "**स्कूल में खेल का पीरियड होता है। यह पीरियड बच्चों के लिए सबसे आनंद दायक होता। मैदान में छुवा–छुवी, बाघ और बकरी, कबड्डी तथा लोका–गोटी खेलते। इसमें चरवाहे भी शामिल हो जाते। चरवाहे बच्चे दौड़ने में, पटकने में छात्रों से आगे रहते। इसलिए मारपीट, टांग पकड़कर खींचना, रोना और गली–गलौज भी होता रहता। लेकिन इसी डर से चरवाहों ने वहां मवेशी चराना कभी नहीं छोड़ा। इसके उलट ताकतवर चरवाहे को कबड्डी में, गेंद खेलने में हर दल अपने साथ रखना चाहता। इसके लिए वे अंटा, गोटी आदि देकर दोस्ती बनाते। चरवाहे बच्चों को दोस्तों के साथ–साथ मुफ्त में कविता और पहाड़े सीखने को मिल रहे थे।**"[27] अब वह लोका–गोटी , चालगोटी, दूध–छाली, छुवा–छुवी देखने को नहीं मिलता है। अब तो लोग क्रिकेट कैरम और वीडियो गेम खेलते हैं। आधुनिकता का प्रभाव तथा आधुनिक तकनीकियों ने उनके पारंपरिक मनोरंजन के साधनों का स्थान ले लिया है।

आज आदिवासी समाज को देखने पर हम पाते हैं कि अब उस तरह से न तो घोटुल, धुमकुड़िया रह गया है और न ही कोई शिकार कर सकता है। सरहुल, करम, सोहराई, शादी आदि के स्वरूप भी अब पहले जैसे नहीं रह गए हैं और इनमें बदलाव भी आ चुका है।

आदिवासी समाज में कुछ अंदरूनी संकट भी हैं। वे कैसे समाज में खुद नियम बनाये है? बाहरी प्रभाव के कारण कैसे गोनोंग प्रथा लागू किये हैं जिससे कईयों की शादी नहीं हो पाती है। स्त्रियों को डायन कहकर उसकी हत्या करना या सताना पुरुष प्रधान समाज द्वारा गढ़ा गया नियम है। यह कहा जाता है कि

आदिवासी समाज में कोई लिंग भेद नहीं किया जाता है। उनके जन्म लेने पर भी खुशियाँ मनाई जाती है। आम धारणा है कि आदिवासी महिलायें अधिकार संपन्न तथा बराबर की हकदार हैं, यहाँ स्त्री पुरुष समान माना जाता है। रूपलाल लाल बेदिया की कहानी है **'अधूरी दुनिया के स्वप्नजीवी'**। यह कहानी भ्रूण हत्या पर आधारित है। इस कहानी में एक ऐसा समाज है जहाँ लड़की का पिता होना ही पाप तथा अपमान समझा जाता है जिसके कारण समाज में भ्रूण हत्या पर जोर दिया जाता है जिससे समाज लड़की विहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में निशांत जो कहानी का नायक है यानि उस समाज के लड़के को स्त्री की कमी खलती है। इस हालात में वह स्वप्न लोक में विभिन्न प्रकार का स्वप्न देखता है। विवाह मंडप में खुद को वर रूप में देखने का सपना, मासूम लड़कियों को कत्ल करने के अभियान का सपना, पुनर्जन्म का सपना, कई दोस्त होने का सपना, ईश्वर से साक्षात्कार का सपना, लड़की विहीन समाज का सपना, आदिवासी लड़कियों को खरीदने का सपना। वह सोचने लगता है कि क्या ऐसा होने वाला है? क्या हमारा समाज खत्म हो जायगा? अगर ऐसा हुआ तो इसका जिम्मेदार कौन होगा? क्या हम स्वयं हैं? सोचते–सोचते वह पुनः सपने में खो जाता है जहाँ उन्हें ईश्वर के साक्षात्कार के सपने में यह सुनाई देता है– ईश्वर के राज्य में लड़कियां भरी हुई हैं। वे इस जीवन में आना नहीं चाहती क्योंकि उसे इहलोक में आने से पूर्व ही मार दिया जाता है। किन्तु ईश्वर उनसे यह कहता है कि पृथ्वी पर एक ऐसा भी समाज है जहाँ लड़के–लड़कियों पर कोई भेद नहीं वह है आदिवासी समाज। लेखक ने जिस तरह से कहानी का वर्णन किया है काश की वह अभी भी बने रहता, किन्तु ऐसा नहीं है। आज आदिवासी समाज में बाहरी प्रभाव जबरदस्त पड़ा है। आज जिस तेजी के साथ बाहरी संस्कृति को अपना रहे हैं, अगर यही स्थिति बनी रहे तो आदिवासी समाज को भी लड़की विहीन होने से कोई बचा नहीं सकता। भारत में महिलाओं की जो स्थिति है, आदिवासी संस्कृति में महिलाओं की स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। रोज केरकेट्टा की **'भंवर'** शीर्षक कहानी में हम देखते हैं कि कैसे एक विधवा स्त्री की सम्पति पर समाज अपना अधिकार जमाता है क्योंकि उसकी सिर्फ बेटियाँ है। इससे साफ है कि संपत्ति पर बेटियों का कोई हक नहीं है। इस कहानी के माध्यम से लोगों की जो आदिवासी समाज के प्रति सोच थी वह टूट रही है अन्य समाज की तरह आदिवासी समाज भी पितृसत्तात्मक

ही है। जहाँ तक पता है पति के मरने के बाद सम्पत्ति का हक उस विधवा स्त्री के नाम हो जाता है। इसके लिए कानून भी बने हुए हैं जिसे समाज नहीं मानता और खुद के बनाये गए अंदरूनी नियम पर चलता है जो कि गलत हैं। इस उद्धरण को स्पष्ट करते हुए लेखिका कहती हैं – "**मालकिन और बेटियाँ जान गईं कि वे कितनी असहाय और अकेली हैं। अपना कहने को कोई नहीं हैं। 14 अप्रैल 1937 ई. को 'हिन्दू स्त्रियों की संपत्ति पर अधिकार अधिनयम 1937 पारित हो चुका था। इसे कृषि योग्य जमीनों पर बिहार अधिनियम 6, सन 1942 के द्वारा लागू किया गया। इससे पहले सामजिक कानून के तहत भी विधवा को पति की संपत्ति पर परिसीमित हक था।**"[28] इससे साफ है कि कानून से सामाजिक व्यवस्था बंधी नहीं है। सामाजिक व्यवस्था भी उनके लिए है जिनके पास बाहुबल है? इसलिए कानून को या सामजिक व्यवस्था को जमीन पर उतारने की कोशिश की जायगी तो उसका भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। फिर समाज को स्त्रियों से क्या लेना देना? समाज को जो चलाते हैं वे अपनी मर्जी से व्यवस्था बदल भी सकते हैं। कुछ अन्य अधिकार जो आदिवासी महिलाओं को वंचित है वह है हल चलाना व छप्पर छाना । हल तो स्त्रियों को छूना भी वर्जित है । इसके पीछे आदिवासियों की जो धारणा है जो रूढ़िवादी परंपरा है वह है – "**यदि स्त्रियाँ हल छूती हैं या छप्पर छाती हैं तो वर्षा नहीं होगी अकाल पड़ेगा। रोज केरकेट्टा 'झारखण्ड में सत्ता और संस्कृति में आदिवासी महिला' शीर्षक लेख में बहुत ही सटीक सवाल करती हैं कि क्या प्रकृति ने स्त्री को इतनी ताकत दी है कि वह हल छूकर या छत छजकर मौसम बदल सकती है? वर्षा को रोक सकती है? अकाल ला सकती है? अगर ऐसा है तो उन क्षेत्रों में क्यों नहीं अजमाया जाता है जहाँ तूफान और घनघोर वर्षा से लोग पीड़ित होते हैं।**"[29] परन्तु ऐसा नहीं है ये जो रुढ़िवादी परंपरा है वह पहले से लोगों के दिमाग में बैठाया गया है। यह समाज द्वारा बनाया गया रूढ़िवादी नियम है। अगर ऐसा होता तो प्राकृतिक आपदा से लोग कभी नहीं मरते। लेखिका लिखती हैं– "**इसी देश में सहजानंद के नेतृत्व में किसान आन्दोलन को स्त्रियों ने सफल बनाया था। मझियावा रेवड़ा और दरमपुरा के सारे किसान जब गिरफ्तार हो गए। उनकी स्त्रियों ने हल जोतने से लेकर किसानी के सारे काम किये थे। इसमें अवर्ण–सवर्ण सभी स्त्रियाँ शामिल थीं। ये सब स्त्रियों की शक्ति चिंतन और साहस के साक्षी हैं।**"[30] इसी सम्बन्ध में आदिवासी संस्कृति और स्त्री

शीर्षक लेख में बिटिया मुर्मू (आदिवासी सामाजिक कार्यकर्ता) लिखती हैं – **"भूख से विवश सजोनी किस्कू ने जामताड़ा जिले के बागजोरी गाँव में अपने बच्चे को पालने के ख्याल से हल चलाया था। उसके साथ गाँव वालों ने पशु की तरह व्यवहार किया। उस पर अत्याचार किया। सड़ा हुआ भूसा खिलाया गया तथा उसे 5000 रूपये जुर्माने के रूप में लिए गए। जामताड़ा महिला सभा ने उसके लिए न्याय की मांग की और सजोनी को समाज में एक रास्ता दिखने वाली महिला के रूप में सम्मान दिया। संघर्ष करने के कारण आज सजोनी पहले की तरह रह रही है तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है।"**[31] आदिवासियों के बीच बराबरी का जो हक शायद कभी रहा था किन्तु आज के दिनों में पुरुष प्रधान समाज कैसे तोड़ रहा है? इसे स्पष्ट करते हुए बिटिया मुर्मू लिखती हैं – **"जामताड़ा जिले के गुवाकोला गाँव में महिला सभा बनाने के लिए सुबोदी मरांडी नेतृत्व कर रही थी। पहाड़ से पत्थर की अवैध तोड़ाई को देखकर उन्होंने आन्दोलन शुरू किया। समाज के ठेकेदारों ने उसे गाँव से निकालने की साजिश रची। लोगों ने उनके शराबी पति को शराब पिलाकर अपनी पत्नी को ही डायन करार करने को कहा। सुबोदी के पति ने एक दिन वैसा ही किया और और एक दिन भारी पंचायत में उसने अपनी पत्नी को डायन घोषित कर दिया। गाँव वालों की मदद से उसे जान से मारने की कोशिश की। चूँकि उन्हें यह डर था कि सुबोदी महिला सभा से जुड़ी नेत्री हैं इसलिए उसे सिर्फ घर से ही निकाला गया।"**[32] इस तरह आदिवासी साहित्यकारों की कई ऐसी कहानियाँ हैं जहाँ डायन के नाम पर उस स्त्री का शोषण किया जाता है उनके परिवार वालों से संबध तोड़ दिया जाता है पीटर पॉल एक्का की कहानी **'सुभागी'** में सुभागी एक पहाड़ी बाला, आदिवासी लड़की है जिसकी इच्छा थी डॉ. बनने का किन्तु गरीबी और परिवार के हालात से वह अपने लक्ष्य से वंचित रह जाती है। गाँव का समाज उनकी माँ को डायन कहता है यह भी एक वजह है। उसी प्रकार रामदयाल सिंह मुंडा की कहानी है **'भूत निकासन'** **'उस दिन रास्ते में'** जैसी कहानियाँ हैं। उस दिन रास्ते में मनु मास्टर और नंदी एक ही जात बिरादरी के होने पर भी उनकी शादी नहीं हो पाती हैं क्योंकि उनके समाज का कहना है कि मनु मास्टर की माँ डायन है। इसलिए मनु मास्टर के परिवार से शादी रिश्तेदारों और समाज द्वारा शादी तोड़ी जाती है तथा उनके परिवार से उठना बैठना बंद हो जाता है। सवाल यह है कि समाज में

औरत ही डायन क्यों होती है? क्योंकि पुरुष प्रधान समाज महिला को आगे नहीं बढ़ने देना चाहता है। उनको पुरुष प्रधान समाज अपनी सुविधा के सामान के रूप में इस्तेमाल कर रहा है। यही बात बदस्तूर कायम रखने के लिए जहाँ भी न्याय एवं अधिकार की मांग महिला करती है, उसे डायन कहकर शारीरिक मानसिक अत्याचार के जरिये कमजोर करने की कोशिश की जाती है। यही नहीं उन्हें निर्वस्त्र कर पूरे गाँव में घुमाया जाता है और तो और उन्हें जान से भी मारा जाता है।

आदिवासियों की एक दूसरी अंदरूनी संकट है – **गोनोंग प्रथा**। गोनोंग प्रथा के कारण कईयों की शादी नहीं हो पाती है। जैसे–जैसे शिक्षा का विकास हुआ है वैसे–वैसे लोग बाहरी संस्कृति से ज्यादा जुड़ने लगे हैं। अब लोग जितने शिक्षित हो रहे हैं उतने डिमांड भी करने लगे हैं। डॉ. वीर भारत तलवार गोनोंग प्रथा को लेकर कहते हैं – **"गोनोंग प्रथा जो आज एक भयानक रूप धारण करके 'हो' समाज को बर्बादी और पतन के रास्ते पर ले जा रही है। हो आदिवासियों में शादी के समय लड़के वालों को दुल्हन की कीमत के रूप में कुछ रूपये पैसे आदि लड़की वालों को देने पड़ते हैं – इसे ही गोनोंग कहते हैं। यह प्रथा मुंडा संथाली तथा उरांव और झारखण्ड के दूसरे आदिवासियों में भी है। हो समाज की तरह यह दूसरे आदिवासी समाज में ऐसी भयानक नहीं है। उरांव लोगों में सिर्फ 7 रु.देने पड़ते हैं। इसी तरह मुंडा और संथालियों में भी बहुत ही मामूली सी रकम प्रतीकात्मक रूप में दी जाती है। लेकिन हो समाज में आज गोनोंग में हजार –15 सौ रु. तक देने पड़ रहे हैं। इसके चलते हो समाज में हजारों युवक–युवतियों की शादियाँ नहीं हो पा रही हैं। मां–बाप एक तरफ अपनी लड़की की शादी में हजार रु. से भी अधिक गोनोंग चाहते हैं दूसरी तरफ वे इतना अधिक गोनोंग देने में असमर्थ होने के कारण अपने लड़कों की शादी नहीं कर पा रहे हैं। अगर लड़कों की शादी नहीं होगी तो लड़कियों की शादी कैसे होगी? नतीजा यह है कि किसी की भी शादी नहीं हो पा रही है। इसका भयानक परिणाम निकल रहा है। जवान लड़के–लड़कियाँ गोनोंग की कुप्रथा के कारण गलत रास्ते पर चलने के लिए मजबूर हो रहे हैं।"**[33] मंगल सिंह मुंडा कृत **'सिन्दूर की डिबिया'** शीर्षक कहानी दहेज विरोधी एक लड़की के त्याग की कहानी है। दहेज के कारण

सुनीता की शादी उनके पिता नहीं कर पाते हैं। परिवार का पूरा माहौल दहेज जुटाने को लेकर चिंता में डूबा हुआ है। उनकी यह हालात सुनीता से देखा नहीं गया। वह पिता का दर्द जानती थी परिवार का दर्द जानती थी इसलिए एक दिन चुपचाप घर से निकल पड़ती है। जाते जाते पिता के नाम यह सन्देश दे जाती है – **"पिता जी मैं पति से ज्यादा पिता को महत्त्व देती हूँ। एक घर को उजाड़कर दूसरे घर बसाना उचित नहीं। थाने पर जाकर मेरे लापता होने की रपट लिखा दीजिये।"**[34]

हिन्दू समाज दहेज जैसी समस्या से पीड़ित है और दहेज के लिए पत्नियों को जिन्दा जलाने और उनकी हत्या कर देने की घटनाएं भी घटती रहती हैं, जबकि अधिकतर आदिवासी समाज में दहेज ऐसी विकराल समस्या नहीं है और दहेज के लिए (गोनोंग के लिए) किसी को जलाने या हत्या करने की तो आदिवासी कल्पना भी नहीं कर सकते। किन्तु जैसे–जैसे आर्थिक स्थिति मजबूत होती जा रही है लोग बाहरी दुनिया से परिचित हो रहे हैं। यह चिंतनीय है कि यह स्थिति आदिवासी समाज में एक भयानक समस्या के रूप में उभर रही है। समय रहते सोचने की जरुरत है। आदिवासी समाज में इस दहेज रूपी दानव को नहीं उभरने देना चाहिए।

प्रत्येक समाज की अपनी परम्पराएं, मान्यताएं और उसी अनुरूप सामाजिक व्यवस्था होती है। आदिवासी समाज में भी ऐसी व्यवस्था थी। अपने लोगों को पारिवारिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की शिक्षा देने तथा मनोरंजन करने हेतु भी विभिन्न संस्थाएं एवं निश्चित स्थान जैसे धुमकुड़िया, गितिओड़ा, अखड़ा आदि के साथ धांगर की प्रथा थी। समय अंतराल के बदलते परिवेश में इनमें बाहरी तत्व घुलते मिलते गए। इनका मौलिक स्वरुप धूमिल पड़ता गया। इससे इसकी उपयोगिता कम होने लगी और समाज इसके लाभ से वंचित होकर भ्रमित होने लगा है।

सन्दर्भ

[1]उलगुलान का सौदा, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या – आवरण पृष्ठ

[2]आदिवासी कौन, सं. रमणिका गुप्ता, लेख अशोक सिंह, पृष्ठ संख्या – 110

[3]कथाक्रम (पत्रिका) सं. शैलेन्द्र सागर , लेख रोहिणी अग्रवाल , अक्टूबर – दिसंबर 2011 , अंक –50

[4]क्रॉसफायर, ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृष्ठ संख्या – 8

[5]पठार(ब्लॉग) – आदिवासी समाज की जिजीविषा और संघर्ष, लेख विनोद कुमार, 24 जून 2014

[6]झारखण्ड का आदिवासी समाज और संस्कृति, विकास मैत्री, पृष्ठ संख्या –41

[7]क्रॉसफायर, ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृष्ठ संख्या – 7

[8]ताबेन जोम, वासवी, पृष्ठ संख्या – 26

[9]उलगुलान का सौदा, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –20

[10]वही, पृ• सं• –20

[11]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार , पृष्ठ संख्या –223

[12]वही, पृ• सं• –224

[13]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –24

[14]राजकुमारों के देश में, पीटर पॉल एक्का , पृष्ठ संख्या – 121

[15]वही, पृ• सं• – 69

[16]अपना अपना युद्ध , वाल्टर भेंगरा तरुण , पृष्ठ संख्या –125

[17]उलगुलान का सौदा, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या – 7

[18]राजकुमारों के देश में, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –82

[19]वही, पृ• सं• –122

[20]वही, पृ• सं• –110

[21]वही, पृ• सं• –103

[22]वही, पृ• सं• –107

[23]वही, पृ• सं• –107

[24]वही, पृ• सं• –104

[25]वही, पृ• सं• –142

[26]जंगल के गीत , पीटर पॉल एक्का , पृष्ठ संख्या –181

[27]पगहा जोरी जोरी रे घाटो , रोज केरकेट्टा , पृष्ठ संख्या –137 –138

[28]वही, पृ• सं• –16

[29]झारखण्ड की महिलाएं , सं. डॉ. रेणु दिवान , लेख रोज केरकेट्टा , पृष्ठ संख्या –47

[30]वही, पृ• सं• –47

[31] युद्धरत आम आदमी पत्रिका, सं. रमणिका गुप्ता, लेख बिटिया मुर्मू ,पृष्ठ संख्या –91

[32]वही, पृ• सं• –92

[33]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या – 231–232

[34]महुआ का फूल, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या –38

अध्याय पांच

झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में आर्थिक , राजनीतिक समस्याएँ : संघर्ष और प्रतिरोध :–

आर्थिक, राजनीतिक समस्याएँ :–

यह कहा जाता है कि झारखण्ड की धरती, खान, खनिज और वन सम्पदा से भरपूर है। यह भी सत्य है कि खनिज सम्पदा सबसे ज्यादा उन इलाकों में पाई जाती है जहाँ आदिवासी रहते हैं। जल, जंगल और जमीन प्रकृति की विरासत वरदान स्वरूप उन्हें मिला है किन्तु आदिवासियों के लिए यही वरदान उनके विनाश का कारण बन गया है। जल, जंगल और जमीन के बिना आदिवासियों का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह सब शोषक वर्गों को भली–भाँति पता है इसलिए बाहर से आने वाले शोषकों की नजर सबसे पहले आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर ही होती है और उसे हड़पने के लिए हर प्रकार की चाल चली जाती रही है।

प्राकृतिक संसाधनों से भरा इलाका होने के कारण इन क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आना तथा बहिरागतों का उन इलाकों में जमना आम बात है। वर्तमान में इसी उद्देश्य से मौजूदा सरकार द्वारा कभी सी.एन.टी. एक्ट में संशोधन करने की कोशिश की जा रही है तो कभी 'मोमेंटम झारखण्ड वैश्विक निवेशक सम्मलेन' के माध्यम से तमाम औद्योगिक घरानों को न्योता दिया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में जल, जंगल और जमीन के माध्यम से अपनी पहचान बनाने वाले आदिवासियों का क्या अंजाम हो सकता है यह अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है।

अगर जमीनी स्तर पर देखा जाए तो आजादी के इतने सालों बाद भी यहाँ भयंकर अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी सामाजिक असमानता मौजूद है। झारखण्ड में रहने वाले विभिन्न जातियों के लोगों का अभी तक सामाजिक स्तर में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। ये सदा से शोषण, उत्पीड़न और दमन के शिकार रहे हैं। आदिकाल से लेकर आज तक आदिम जनजातियाँ वन्य जीवन बिताती रही हैं, किन्तु

अपने को मुख्यधारा कहने वाले नगरवासियों ने उनका लगतार दोहन, शोषण और उत्पीड़न किया है। सभ्यता और विकास के नाम पर प्रकृति को रौंदा गया है, साथ ही प्राकृतिक जीवन जीने वाले निरीह प्रकृत मानव समुदायों के जीवन के साथ हिंसक, बर्बर, अशिष्ट और अश्लील छेड़छाड़ की गई। उनकी आस्था के साथ खिलवाड़ किया, उनकी परम्पराओं को तोड़ा है उनके जीवन साधनों और संसाधनों को तहस–नहस किया है। उन्हें शरणार्थियों की स्थिति में ला पटका है।

हम जानते हैं कि जल, जंगल और जमीन ही आदिवासियों की पहचान है। इनके बिना वे एक प्राणी मात्र हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जल, जंगल और जमीन का लुटना ही इनकी सबसे बड़ी समस्या है। हालाँकि उनकी समस्याएँ हर क्षेत्र में बनी हुई है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में वे समस्याओं से ही घिरे हुए हैं। आर्थिक समस्याओं में वर्तमान और ज्वलंत समस्याएं हैं सरकार द्वारा नई–नई नीतियाँ लागू करना जैसे सी. एन. टी., एस. पी. टी. एक्ट में संशोधन करने की कोशिश तो मेमोरंडम झारखण्ड के नाम पर बड़े–बड़े उद्योगपतियों को पूँजीनिवेश के लिए आमंत्रण। क्या इन पूँजी निवेशकों को बिजली, पानी, जमीन की आवश्यकता नहीं होगी? और आवश्यकता है तो क्या इनके लिए अलग से जमीन तैयार है? ऐसा हो ही नहीं सकता। शत प्रतिशत इन्हें बिजली, पानी और जमीन चाहिए। और जमीन किसकी है? यह बताने वाली बात नहीं है। इनके एवज में उन्हें मुआवजा के रूप में विस्थापन, पलायन जैसे अमूल्य धन मिलने वाले हैं और पहले से विभिन्न सरकारी योजनाओं के तहत मिलते आ रहे हैं। मुआवजा के तौर पर जो रूपये पैसे दिए जाते हैं वह तो सिर्फ लॉलीपोप मात्र है इसलिए उन्हें मुआवजा कहना ठीक नहीं होगा। राजनीतिक समस्याओं में हम देखते हैं कि कैसे सरकार के द्वारा कहीं ग्रीन हंट ऑपरेशन , ऑपरेशन मॉनसून , ऑपरेशन अनाकोंडा तो कहीं ऑपरेशन ब्रेभो बॉय चलाया गया जिनमें कई बेकसूरों की जानें गईं, और उन्हें क्रोसफायर का नाम दिया गया। ये ऑपरेशन झारखण्ड उड़िसा और छत्तीसगढ़ के कई इलाकों में हमेशा से चलाया जाता रहा है । झारखण्ड के जाने माने आदिवासी सामाजिक कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग इस सन्दर्भ में कहते हैं – "**सरकार चाहती है कि आदिवासी गलियारा को लाल गलियारा**

बताकर बन्दूक के बल पर उसे खाली करा दिया जाए। सरकार ने इसके लिए अर्द्धसैनिक बलों के दो लाख जवानों को लगा रखा है और पूरी तैयारी चल रही है कि इसे कैसे औद्योगिक गलियारा बनाया जाए।"[1]

सामाजिक समस्याओं में अन्धविश्वास, अशिक्षा भ्रष्टाचार जैसी समस्याएँ हैं जिनके कारण समाज में बलि देने की प्रथा और ढोंगी बाबाओं का कारोबार चलता रहता है। अशिक्षा और अन्धविश्वास के कारण आज भी आदिवासी समाज का कई ऐसा तबका परंपरागत रुढ़ियों नीतियों तथा रीतियों पर ही विश्वास करते हैं।

आदिवासियों की आर्थिक व्यवस्था शुरू से ही प्रकृति पर निर्भर थी। कुछ एक समुदाय अभी भी ऐसे हैं जो पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर हैं। कुछ एक को छोड़कर (जो आदिवासी समुदाय शहरों में बस गए हैं, जो आदिवासी कहलाना भी पसंद नही करते) आदिवासियों का जीवन बहुत हद तक जंगलों पर ही निर्भर है। जीविकोपार्जन के लिए किसी न किसी रूप में वे जंगलों से जुड़े हुए हैं, प्रकृति से जुड़े हुए हैं। जल, जंगल और जमीन प्रकृति की ही देन है। जंगल में पाये जाने वाले जड़ी–बूटी, साग–सब्जी, कंद–मूल, पत्ते, फल–फूल, लकड़ी इत्यादि सब आदिवासियों के जनजीवन का सहारा है। वे जलावन के लिए, घर–बगान बनाने के लिए, कृषि के औजार बनाने के लिए, रस्सियों और पत्तियों के लिए जंगल पर निर्भर रहते हैं। इसके बाद जंगल के फल–फूल, कंद–मूल, साग–सब्जी आदि जंगल से ही प्राप्त किये जाते हैं।

देश में वन संरक्षण कानून 1980 में बना। इससे पहले वनों के काटने पर कोई रोक टोक नहीं थी। कानून बनने के बाद विकास के लिए भी वनों को काटने के पूर्व अनुमति हासिल करने का प्रावधान है और एक पेड़ काटने के बदले में तीन पेड़ लगाने पड़ते हैं। अब चूँकि वनों पर सरकार का अधिकार आ जाने से विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। वनों पर आश्रित आदिवासियों का पत्ते तोड़ने का भी अधिकार छिन गया है। आदिवासियों की इस दशा

को कई आदिवासी एवं गैर आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से स्पष्ट करने की कोशिश की है ।

वाल्टर भेंगरा तरुण कृत – **जंगल की ललकार** शीर्षक कहानी में कैसे उजड़ते हुए जंगलों को खुद जंगल ही ललकार रहे हैं यह सहज ही देखने को मिलता है। इस कहानी में मुंडा जनजातियों का जंगलों पर उनके अधिकार और अधिकार छीने जाने के बाद का संघर्ष है। जंगलों पर सरकार का अधिकार आ जाने के बाद वहां के आदिवासी समुदाय कैसे जंगलों से वंचित रहते हैं उसका दुखद चित्रण लेखक ने इस कहानी में किया है। जीने का कोई रास्ता नहीं दिखने पर एक बूढ़े पिता दारू का धंधा चलाते हैं। इस धंधे में अपने ही लोगों को फंसता देख बेटा विरोध करता हुआ कहता है यह गलत है तथा गैर कानूनी भी है इस पर पिता का जो जवाब है वह पूरे कहानी को समझने के लिए काफी है – "**जंगल से लकड़ी काट नहीं सकते। बरखा नहीं तो अनाज नहीं । बोल खायगा क्या ? यही जंगल था बाप दादा के जमाने से। तब यह हमारा था जंगल उन दिनों कभी इस तरह उजाड़ नहीं था । लकड़ियाँ उन दिनों भी काटते थे हम। आज यह सरकार कहाँ से आ गई ? अब उसका जंगल हो गया। सरकार का जंगल क्या हो गया , सारा जंगल नष्ट हो गया। चोरी करे कोई और दोषी बने हम। हुंह क्या जमाना आ गया, मुझे मत समझाओ। तुझे यह काम पसंद नहीं तो कोई दूसरा धंधा करो।**"[2] जिस जंगल से उनकी सदियों से जीविका चल रही थी वही जंगल आज इन्हें जेल पंहुचा रही है, तो दर–दर की ठोकरें खाने को मजबूर कर रही है। उन्हें दतुवन पत्ते तथा जलावन के लिए लकड़ी तक नसीब नहीं। हालाँकि लकड़ियाँ उनसे भी तेज गति से काटे जा रहे हैं। इस पर लेखक कहते हैं –"**वैसे सभी को पता है जंगल की मोटी लकड़ियाँ और पेड़ काटकर कौन ले जाता है। शहर से शम्भू सेठ ट्रक लेकर आता है और रातों रात उस पर लकड़ी लादकर वापस चला जाता है । उस समय कोई फॉरेस्ट गार्ड जंगल में नहीं आता। लेकिन जब गाँव के लोग जलावन के लिए लकड़ियाँ काटते हैं तो वह चावल दाल से लेकर मुर्गा और पैसे भी वसूल लेता है।**"[3] संजीव कृत **पांव तले की दूब** शीर्षक उपन्यास में भी हम देखते हैं कि कैसे अपने अधिकारों से वंचित ग्रामीण आदिवासी नेताओं ने

मिलकर जंगल के ठेकेदारों के विरुद्ध डायरेक्ट एक्सन लेना चाहा क्योंकि उन्हें अपने ही जंगलों से दतुवन तक नसीब नहीं होती थी। वन संरक्षण नीति के नाम पर जंगलों पर से उनके सारे अधिकार छीन लिए गए। ठेकेदार जंगलों को अपनी आमदनी का स्रोत बना चुके थे। जहाँ जंगल के मालिकों को पत्ती तक नसीब नहीं वहां गैर कानूनी तरीके से ठेकेदार लकड़ी कटवाकर ट्रकों–ट्रक सप्लाई करने लगे थे। जब आदिवासी नेताओं ने उनका विरोध किया, उनके खिलाफ डायरेक्ट एक्सन लिया तो एक–एक करके सभी को पुलिस पकड़ के ले गई। उनकी जमानत कुछ दिनों के बाद हुई। गुस्साए नेता फिलिप को अपने नाकामी पर गहरा क्षोभ हुआ और उसने पूरे शालबनी के जंगलों में पेट्रोल छिड़ककर आग लगा दी और खुद भी उसी में जल गया। वह खुद मरकर हारा नहीं। प्रशासनिक व्यवस्था पंगु हो चुकी थी, सच्चाई का कोई जमाना नहीं रह गया था। वह नहीं चाहता था कि उनके रहते उनकी पहचान दिकुओं, ठेकेदारों के हाथों विनाश हो। इस प्रकार कई आदिवासी तथा गैर आदिवासी लेखकों ने भी आदिवासियों की इस सच्चाई को अपनी कथा कहानियों के माध्यम से पाठकों तक लाने की कोशिश की है। विकास के नाम पर कई सरकारी परियोजनाओं ने वहां के मूलवासियों के रोजमर्रा का जीवन नष्ट कर दिया है। पीटर पॉल एक्का कृत **'राजकुमारों के देश में'** कहानी में इस आर्थिक परिवर्तन को देखा जा सकता है – "**उस पहाड़ी इलाके में परिवर्तनों की छाप हर ओर दिखने लगी थी। वहाँ एक नयी कोलियरी खुल गयी थी। जाने गंगा पार के किन देशों से लोग आ कर बसने लगे थे वर्षों की मेहनत से बने बनाये खेत दब गए थे। मुआवजा के नाम मिली रकम गाँव के सरपंच की झोली में चला गया था। मंगलू काका के दुर्दिन के दिन तब शुरू ही हुए थे। काका ने तब बैलों की जोड़ी बेच दी थी। जंगली कंद–मूल, फल–फूल, कम मिलने लगे। सुरक्षित वन बोर्ड के साथ कंटीली परिधि लग गयी थी।**"[4] पीटर पॉल एक्का की एक दूसरी कहानी '**तुम्हीं कहो कहाँ जायें**' में पहले सरकारी योजनाओं के तंत्र ने जंगल पर अपना अधिकार बनाया। जंगल अब ठेके में उठने लगा था। ऐसी स्थिति में लोगों के सामने पलायन की समस्या आ गई क्योंकि वे अपनी सम्पत्ति को इस तरह उजड़ते नही देख सकते और न ही अपने हाथों जंगलों को नष्ट कर सकते। चूँकि जीविका के लिए उन्हें मजदूरी तो करनी ही थी। कहानी का मुख्य पात्र शिबू जो गाँव में रह गए हैं वो इस सन्दर्भ में कहते हैं –

"मजदूरी नहीं मजबूरी है। पापी पेट को तो भरना ही है , चाहे खुद ही अपने पैरों कुल्हाड़ी क्यों न चलाना पड़े। शिबू की आँखों में बेबसी भरा अतीत एक एक कर उभरने लगता है।"[5] ठेके का जंगल जल्द ही निर्मोही–सा नंगा किया जाने लग था। लंबे–लंबे, भूरे दरख्त एक–एक कर कटते जाते थे, एक जगह जमा किये जाते और तब शहर से आये ट्रकों में देखते–ही–देखते सब कुछ चालान हो जाता।

झारखण्ड के आदिवासियों की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है। पहले ये जंगलों को साफ करके खेती करने योग्य भूमि तैयार करते थे। अच्छी उपज के लिए स्थानांतरित कृषि पर जोर दिया जाता था। चूँकि पर्यावरण में बदलाव आने के कारण अब स्थानांतरित कृषि पर रोक लगा दी गई। अब वे स्थायी कृषि करने लगे हैं किन्तु उनकी जमीनें विकास के नाम पर हमेशा से छिनी जा रही है। देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु ने आदिवासियों को यहाँ तक कह दिया था –

"अगर आप तड़प रहे हैं तो देश के हित में तड़पें यानी अपनी जमीन, जंगल, खनिज, नदियों और पहाड़ों को हमें दे दो और देशहित के नाम पर तड़प तड़प कर मर जाओ।"[6]

जमीन छिन जाने से आदिवासियों के समक्ष गरीबी, बेरोजगारी, विस्थापन और पलायन की समस्या खड़ी होती है। आदिवासियों की ऐसी भयावहता का विवरण पीटर पॉल एक्का की कहानी **'तुम्हीं कहो कहाँ जायें'** में इस पूरे प्रकरण को चंद पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है – **"जल्द ही बस्ती के लोग बिखरने लगे थे। इक्की–दुक्की झोपड़ियाँ यहाँ–वहां रह गयी थी। कुछ लोगों ने समझौता कर लिया था, कुछ रोजी–रोटी की तलाश में जाने कहाँ–कहाँ भटकने लगे थे। शिबू सूनी–सूनी आँखों में देखता रह जाता है। परसों झादे चला गया, कल बेटका, आज कोई और जायेगा, अलग–अलग दिशाओं में। तब बस्ती में न फिर कभी मांदर बजेगा, न बांसुरी, न कहीं झांझ की आवाज गूंजेगी, न झूमर हो पायेगा, न बहा, न सोहराई। सब कोई बिखरते जायेंगे और अंत में उसका कोई अवशेष भी नहीं रह**

जायेगा।"[7] इससे उनके सामने अपने संस्कृति और अस्तित्व को बचाने की समस्याएँ खड़ी होती हैं। भाषा जो उनकी पहचान है ऐसे में धीरे–धीरे लुप्त हो जाती है। हम जानते हैं कि हड़िया दारू के बिना आदिवासियों का जीवन अधूरा है। शादी विवाह से लेकर कोई भी कार्य हड़िया दारू के बिना असंभव है। पंचा और मदइत शब्द से आपको समझने में मुश्किल होगी। पंचा और मदइत दोनों अलग–अलग हैं। पंचा एक ग्रुप होता है इसमें जो भी जुड़ना चाहता है वह जुड़ सकता है। इसमें मेहनताना के लिए सिर्फ पांच या छह सेर का हड़िया दिया जाता है। किन्तु मदइत में कोई भी मदद के लिए आ सकता है। इसमें हड़िया के साथ–साथ दाल भात भी दिया जाता है। यह काम आदिवासी समाज में अब तक लोग बड़े प्रेम से करते आ रहे हैं और कर रहे हैं। यह तो ठीक है लेकिन नशापान (नशे का लत) उनके लिए बहुत बड़ी समस्या है कुछ ऐसे लोग हैं जो नशे की लत में पड़कर अपना घर द्वार , जमीन जायदाद सारा नष्ट कर देते हैं , एक ग्लास दारू के लिए सादे कागज पर दस्तखत कर डालते हैं और अंततः पलायन को मजबूर हो जाते हैं। इस विषय पर डॉ. रामदयाल मुंडा ने **नया धंधा** शीर्षक कहानी के माध्यम से आदिवासी समाज को जागृत करने की कोशिश की है। इसमें कहानी का मुख्य पात्र कैसे और क्यों पलायन किया ? पलायन के बाद की क्या स्थिति थी वह इन पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है – **"कुछ भी हो अपना ग्राम देश कभी छूटता है? यहाँ तो हम अपना पेट टिकाने के लिए आये हुए हैं। हमारी हालत जरा सुधर ले, इसी उद्देश्य से हम यहाँ आये हुए हैं। एक बार वह बंधक जमीन छूट जाए तो हम फिर से बन जाएँगे।"**[8] पीटर पॉल एक्का अपनी कहानी में विस्थापन और पलायन के इस दर्द को व्यक्त करते हुए कहते हैं – **"तब से गौहाटी का एक लम्बा, अनदेखा सफर शुरू हुआ था। साल दो साल वह खूब मेहनत करेगा। विज्ञापन के मुताबिक इतने समय में तो बहुत कुछ कमाया जा सकता है। वह गौहाटी पहुँच गया था – पर वहां न तो विज्ञापन वाली कोई कंपनी थी, न कोई मिल । था तो ईंट भट्टों की लम्बी, बेईन्तहा कतार, धुआं उगलती काली चिमनियाँ, मेहनत मजदूरी के संग–पगार के साथ गाली–गलौज, रहने के लिए छोटी–छोटी झोपड़ियाँ, खुला–खुला–सा जीवन, पाप–पुण्य का सवाल नहीं, खुद को भूलने को देशी शराब। ठगे गए आदिवासी जो विस्थापित होकर पैसा कमाने परदेस जाने को मजबूर हैं लेकिन वहां भी उन्हें ईंट के**

भट्टों में मजदूरी ही करनी पड़ रही है।"[9] विस्थापित लोगों के मन में अभी भी अपनी जमीन पाने की चाहत है मगर वह सपना ही रह जाता है 'खोये हुए लोग' कहानी से इस स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है – "**तब जो एक खेत था – वह बंधक में डाल देना पड़ा था। साल दो साल में जब वह लौटेगा, इतना पैसा जरुर होगा, वह बंधक तो छुड़ा ही लेगा, होगा तो थोड़ी–सी जमीन वह और खरीद लेगा। अपना घर, कुआँ, छोटा–सा खेत–खलिहान होगा –तब वह बाकि दिन खेती करते गुजार देगा। तब जीवन की एक छोटी–सी रूपरेखा –बड़ी–छोटी आड़ी–तिरछी रेखाओं ने उससे खींच ली थी।"**[10] भुखमरी और गरीबी के साथ–साथ बाजारवाद पलायन का एक और कारण है। वाल्टर भेंगरा तरुण ने गरीबी के कारण पलायन पर आधारित **लौटते हुए** उपन्यास लिखा है तो कई छोटी–छोटी कहानियों में पलायन को अपना विषय बनाया है। **बेबसी, संगी, पलास, बसेरे की ओर** ऐसे ही कई कहानियाँ हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में विकास का दावा करने वाले सभी पूँजीपतियों ने यह मान रखा है कि विस्थापन के बिना विकास संभव नहीं है। इसलिए विकास के नाम पर लोगों को उजाड़ने की सुनियोजित साजिश शासकों और शोषकों की चलती रही है। इसका शिकार आदिवासियों को आदिकाल से लेकर अब तक होना पड़ा है। झारखण्ड सहित देश के तमाम आदिवासी इलाके इसके उदाहरण हैं। डॉ. वीर भारत तलवार लिखते हैं – "**स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास का जो यज्ञ पिछले पचास सालों से चल रहा है , उसमें बलि आदिवासियों की दी गई है। सरदार सरोवर बाँध इसका ताजा उदाहरण है जहाँ आदिवासियों को उजाड़कर गुजराती धनी किसानों के लिए पानी का बंदोबस्त किया जा रहा है। झारखण्ड में उद्योग और खदान खोलने के लिए , रिहायसी कालोनियां और दफ्तर बनाने के लिए , बाँध और बिजली घर बनाने के लिए बड़े पैमाने पर आदिवासियों को विस्थापित किया गया।"**[11]

जमीन की समस्या आदिवासियों की मूल समस्या रही है। जमीन पर हक के सवाल या सम्पत्ति पर अधिकार को लेकर हम डॉ. रोज केरकेट्टा की कहानी **भंवर** को सहज ही देखते हैं इस कहानी में उस विधवा स्त्री का हक जो जमीन पर है जो ताउम्र बना रहता है। वह हक समाज से मिला है वह हक उसको मिलेगा या

नहीं मिलेगा। मिला हुआ है समाज से फिर भी यह सवाल उठता है कि मिलेगा या नहीं मिलेगा। कानून मान चुका है, समाज भी मानता है, फिर भी उसको हक नहीं मिलता है न ही दिया जाता है । उसी प्रकार हम रूपलाल बेदिया का **शहर के दाग का दान** पीटर पॉल एक्का का **'परती जमीन' 'राजकुमारों के देश में'** तथा **'सायरन'** जैसी कई कहानियों को देखते हैं। इन कहानियों में कहीं बाँध बनाने के उद्देश्य से तो कहीं लोहा कारखाना लगने या कहीं कोलियरी खोलने को लेकर इन इलाकों में बहिरागतों का आना हुआ है। खदान कलकारखाना तथा विद्युत् परियोजनाओं से विस्थापित स्थानीय लोग जिस प्रकार से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह इन कहानियों के माध्यम में देखा जा सकता है। इनके विस्थापन का उचित मुआवजा भी इन्हें नहीं मिलता। विस्थापित आदिवासी औद्योगीकरण एवं भूमंडलीकरण के कारण दर–दर की ठोकरें खाते हैं और किसी तरह जीवन जीने को विवश हैं। क्या ये आदिवासी इन परियोजनाओं का लाभ उठा पाते हैं ? शायद नहीं क्योंकि उनका व्यवस्थित पुनर्वास ही नहीं होता साथ ही इन परियोजनाओं के कारण इलाके में गैर आदिवासी बहिरागतों के घुसते ही रही सही कसर पूरी हो जाती है। **परती जमीन** में हम देखते हैं कि गैर–आदिवासी बड़े बाबू ने यह फरमान जारी कर दिया था कि अगर कोई लड़की उनके घर में काम पर नहीं आयेगी तो उसके गाँव वालों को मजदूरी से भी बेदखल किया जायगा। उनके घरों पर काम तो एक बहाना है, इरादा तो कुछ और होता है।

आदिवासियों को कृषि कार्य छोड़कर कोई अन्य व्यवसाय सही ढंग से नहीं आता है इसलिए ये लोग दुकान चलाना, व्यापार करना या कोई अन्य रोजगार करना जानते ही नहीं हैं। कृषि की उपज को वे जरूरत के अनुसार अवश्य बेचते हैं। इस प्रसंग में रामदयाल मुण्डा ने विनोद कुमार से एक साक्षात्कार में कहा था कि – "**यहाँ का आदमी बाबाजी है। कल क्या खायेगा इसकी चिंता नहीं । अब उसका पाला पड़ा है उन लोगों से जो प्रबंधन में, जोड़–तोड़ में माहिर हैं। जबकि आदिवासी डेमोक्रेसी सब देख लिया, लेकिन मार्केट में एकदम फेल्योर...बनिया बनने में उसे हजार–दो–हजार साल लगेगा...जिस इलाके में वह रहता है वह इकोनोमिकल**

वायेबल हो गया है पूरी दुनिया के लिए।"[12] आदिवासियों का अपनी मूल जगह से पलायन सदियों से होता रहा है और आज भी जारी है। आदिवासियों के जंगलों, जमीनों, गांवों और उनके संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें भटकने के लिए मजबूर करने के पीछे सबसे प्रमुख कारण सरकार की नीतियाँ रही हैं। वे अपनी जमीन, गाँव और संसाधनों से विस्थापित ही नहीं हुए हैं बल्कि अपनी जीवन–शैली, भाषा–संस्कृति, मूल्यों से भी बेदखल किये गए हैं। सरकार आदिवासी विकास के नाम पर लंबी–चौड़ी योजनाएँ बनाती है पर आदिवासी जीवन–यापन के बुनियादी उपकरणों और सुविधाओं से वंचित हैं। इस संदर्भ में आदिवासी युवा चिन्तक अनुज लुगुन अपनी सम्पादित किताब **आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध** में लिखते हैं **–"एक ओर तो जमीन छीन जाने से विस्थापन के बरअक्स पुनर्वास की ठोस वैधानिक व्यवस्था नहीं हुई, वहीं दूसरी ओर आदिवासी अर्थव्यवस्था जो कि कृषि और वनोपज से संयुक्त थी वह ध्वस्त हुई । एक ओर जमीन गयी सो गयी वन और वन के उत्पाद भी उनके हाथ से निकल गये । इसने आदिवासियों को सीधे आर्थिक रूप से प्रभावित किया और वे सारे दावे जो उनको विस्थापित करने के दौरान नौकरी और उनके विकास के लिए किये गए थे सब–के–सब धरे रह गये।"**[13]

रूढ़िवाद तथा धार्मिक अंधविश्वास आदिवासी समाज में बने हुए हैं। समाज में जो धार्मिक अंधविश्वास है, रुढ़िवादी है, वह लोगों को और अधिक कमजोर बना देता है। इसके चक्कर में उन्हें कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। समाज में डायन एक ऐसा वायरस है जिसका जीवाणु सिर्फ औरतों पर जाता है। ये जीवाणु उनमें आता नहीं बल्कि डाला जाता है। ये डालने वाले कौन हैं? खुद आदिवासी समाज ही है। अगर इस वायरस का धब्बा किसी पर पड़ा तो उसके साथ उठना बैठना तो दूर की बात किन्तु उनके सामने भी आना गुनाह है। उन्हें कई तरह की यातनाएं दी जाती है इतना ही नहीं उन्हें जान से भी मार दिया जाता है।

अंधविश्वास के कारण उनके सामने आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। कैसे उनसे पाखंडी बाबाओं द्वारा बीमारी भगाने या प्रेतात्माओं से मुक्ति के नाम पर उसका बैंक खाता कहा जाने वाला निरीह पशुओं की मांग करते हैं। और

अगर वे ऐसा नहीं करते हैं उनकी मांगों को पूरा नहीं करते हैं तो वे या तो मर जाएँगे या उस स्थिति से कभी उबार नहीं पाएंगे। इस तरह का जो अन्धविश्वास है वह उनमें घर कर जाता है। ऐसे में आर्थिक समस्याओं का उत्पन्न होना लाजमी है। **भूत निकासन** रामदयाल मुंडा की कहानी इसी पर आधारित है। "**दो काले मुर्गे और एक चितकबरा मुर्गा, इन सबकी बलि यहीं दी जानी चाहिए और बाकी मुर्गे, बकरे और भेड़ की बलि हम आपके गाँव की सीमा में खुद करेंगे। वह सब आपके लिए निषिद्ध है।**"[14] इस कहानी में मुंडा जी ने दिखाया है कि कैसे पाखंडी बाबाओं ने अपने चेलों के साथ मिलकर भूत निकासन के नाम पर भोले–भाले आदिवासियों के मन में डर, भय और भ्रम उत्पन्न करते हैं कि उन्हें लगने लगता हैं कि जो भी समाज के बीच घट रही है वह सब सच है। जब ये इनकी चालों में फँस जाते हैं तब उन पाखंडियों का पाखंडी मन्त्र सफल हो जाता है। तब वे उन आदिवासियों से मनमाना मांग करते हैं और उन बेजुबान प्राणियों की मांग करते हैं जो आदिवासियों का बैंक खाता माना जाता है। उन बेजुबान प्राणियों में दिखावे के नाम पर कुछ एक की बलि दी जाती है और बाकी को वे अपने लक्ष्य में लगाते हैं; और उनका लक्ष्य क्या है? उन बेजुबानों को दूर बाजार ले जाकर उनका व्यापर करना। इस प्रकार देखा जाय तो सामाजिक समस्या अन्य दूसरे समस्याओं से भी गम्भीर माना जा सकता है। क्योंकि समाज में अपने ही समुदाय के लोगों में बिखराव का माहौल स्पष्ट दिखाई देता है। समाज में जो असमानता का माहौल है वह या तो जमीन जायदाद को लेकर है या फिर सम्पत्ति में स्त्री के हक का सवाल को लेकर है। समाज में अगर किसी को डायन बोला जा रहा है तो अपने ही लोगों के बीच अपने ही लोगों के द्वारा ही बोला जा रहा है जिसके कारण मानवता आपस में खत्म होती दिखाई देती है। ऐसे में अपने ही बीच कई नई–नई समस्याएँ उत्पन्न होती जाती है जो समाज के लिए शोचनीय है।

झारखण्ड, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ में नक्सलवाद एक गंभीर समस्या रही है जिससे निजात पाने के लिए सरकार के द्वारा 'ग्रीन हंट' जैसा सैन्य अभियान चलाया जा रहा है। इस अभियान में नक्सलियों का तो कम किन्तु आदिवासियों के शांतिमय और लोकतांत्रिक आंदोलनों को कुचलने का काम ज्यादा होता

है। आम जनता को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है साथ ही बेकसूरों को अपनी जान गँवानी पड़ती है। इस प्रकार की घटनाएँ कई आदिवासी क्षेत्रों में ज्वलंत समस्याएँ हैं। भोले–भाले बेकसूर, लोगों को बिना जुर्म के फलां नक्सली से साँठ–गाँठ के सच्चे झूठे इलजाम में पुलिस की बेंत खानी पड़ती है या जेल की हवा खानी पड़ती है। इससे बढ़कर समाज के लिए कौन सी समस्या हो सकती है। आदिवासियों की इस हालत के लिए उनके जनप्रतिनिधि ही सबसे ज्यादा जिम्मेदार हैं जिन्होंने कभी भी ईमानदारी से उनके सवालों को विधान सभा एवं संसद में नहीं उठाया। ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – "**आज नक्सलवाद देश की सबसे बड़ी समस्या बन गयी है, लेकिन आदिवासियों की समस्या कभी भी देश की समस्या नहीं बन सकी, बल्कि आदिवासियों को ही तथाकथित मुख्यधारा की समस्या मान लिया गया है क्योंकि वे ही प्राकृतिक संसाधनों को पूंजीपतियों को सौंपना नहीं चाहते हैं।**"[15]

आदिवासियों की समस्याओं का समाधान निकालते हुए आगे लिखते हैं – "**आदिवासियों की समस्याओं का हल यही है कि उनके संसाधनों को न लूटा जाए , उनके बीच मानव संसाधन का बड़े पैमाने पर विकास हो, उनके बजट का हिस्सा ईमानदारी से उनके लिए खर्च किया जाए , संवैधानिक प्रावधान व कानून लागू किये जाएँ एवं सबसे जरुरी यह है कि उन्हें बराबरी का दर्जा देकर आदिवासी दर्शन पर आधारित विकास प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाया जाए।**"[16]

संघर्ष और प्रतिरोध :–

अगर इतिहास को झाँक कर देखा जाए तो भारत के आदिवासियों का इतिहास सत्ता का नहीं, संघर्ष का इतिहास रहा है। आदिवासी इतिहास समझौतों और कूटनीतियों का नहीं, अस्तित्व के लिए बार–बार लड़ते रहने की जिजीविषा का इतिहास है। केदार प्रसाद मीणा अपने '**आदिवासी संघर्ष का इतिहास**' शीर्षक लेख में लिखते हैं – "**देश के लगभग सभी हिस्सों के आदिवासियों ने अस्तित्व और अस्मिता के लिए हमेशा लड़ाईयाँ लड़ी है। देशी विदेशी शोषकों के खिलाफ**

आदिवासी हमेशा संघर्षरत रहा है। उनकी यह लड़ाई भारत में आर्यों के आगमन से शुरू हुई थी और आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों के इन आदिवासी इलाकों में जमने तक जारी है।"[17] सन् 1765 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी को जब से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली, तब से लेकर अब तक यहाँ के आदिवासी अंग्रेजों तथा जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह तथा संघर्ष करते आ रहा है।

आदिवासी इतिहास की एक विशेषता यह है कि इनके विद्रोहों में महिलाओं ने भी सक्रिय भूमिका निभाई है। जैसे रोहतासगढ़ के किले की लड़ाई में उराँव सिनगी दई और कोइली दई लड़ी। संथाल हूल में सिदो कान्हू की बहने फूलो व झानो लड़ी। बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' में बनकन मुंडा की पत्नी, मझिया मुंडा की पत्नी, थीगी, नागी, साली, चंपी आदि कई महिलाएँ सक्रिय रहीं। ताना भगत के आंदोलन में देवमनी लड़ी थीं।

मंगल सिंह मुंडा ने **महुआ का फूल** शीर्षक कहानी में नारी चरित्र के माध्यम से उनके संघर्ष, आत्म रक्षा व प्रतिरोध के स्वर का जिक्र किया है। इस कहानी में सेठ साहूकारों से आहत स्त्रियां अपनी मुट्ठी खुद बांधती हैं और **ब्लेड सेना** नामक समिति का गठन करती हैं। चूँकि आदिवासी इलाकों में बाहरी सेठ साहूकारों का आना और बस जाना आम बात है और आते ही उन इलाकों में बसे सीधे–साधे लोगों का मनमाना शोषण करना और उन्हें नंगा करने की हर कोशिश करना उनकी नियति हैं। कैसे बाहरी घुसपैठी अपनी चिकनी चुपड़ी बातों से लूट रहे हैं जीविका के वस्तुओं को कैसे कौड़ी के भाव मोल रहे हैं । उन सब से उबरने के लिए इस कहानी की मुख्य पात्रा ब्लेड सेना का लीडर अपने लोगों को शिक्षा देते हुए कहती हैं – **"हमारे पास उत्पाद के नाम पर क्या है पहाड़ी नदियों से खेत पटे तो दो कौर भात मिल जाय नहीं तो कंद–मूल, फल–फूल खाकर रात अँधेरे में लम्बा हो जाओ हाँ प्रकृति की ओर से एक वरदान जरुर मिला हुआ है हमें महुआ, कुसुम तथा सखुए की बहुतायत है, यहाँ। आधा से अधिक आबादी इन्हें ही बेच खाकर गुजर बसर करती है। मुर्गा बांग दिया नहीं कि औरतें बच्चे बच्चियां खांची टोकरी आदि लिए बाघ, भालू, सांप, बिच्छू तथा सेठ मूलचंद के गुंडों की परवाह न करते हुए जंगल की ओर निकल पड़ते**

हैं और टोकरी भर महुआ, कुसुम तथा सखुए आदि के फूल बीज बीन आते हैं। फिर इन्हें शहर जाकर बेच आते हैं। बस यही तो हमारी जीवन चर्या है जो सदियों से अविराम चली आ रही है। मूलचंद (गाँव के भोले भाले गरीब कंगालों का खून चूसकर अपनी तिजोरी भरने वाला विष वृक्ष) जीवन की इस विकट धारा को रोज सबेरे मुंह में हुक्का लगाए टुकुर–टुकुर देखता रहता है और लाभ हानि के सूक्ष्म पहलुओं पर बारीकी से जाँच पड़ताल करता। संभवतः सोचता होगा क्यों न सारी वन सम्पदाओं को कौड़ी के दाम खरीद लूँ और सोने के दाम बेचूं। अपने गुंडों और लठैतों द्वारा क्यों न इन्हें आतंकित किया जाय। हमें जान माल की धमकी दी गई थी। सारा माल उसके द्वारा निर्धारित दाम में उसे ही देना पड़ा। जो महुए के फूल से दारु बनाने का कारोबार करते थे उन्हें भी कच्चा माल के लिए अपने ही गोदाम से लेने का आदेश प्राप्त था । यही नहीं जो अपने माल से दारु बनाकर बेचते थे उनके हाथ भी काट दिए गए। उसने गाँव में एक शराब का कारखाना खोल डाला ताकि खुदरा विक्रेताओं का धंधा ठप हो जाय।"[18] ऐसी परिस्थितियां व शोषणों का उन्हें हर रोज सामना करना पड़ता। आखिर कब तब झेलते ? उन गुंडों का सामना कब तक करते ? उनको यह दिखाना था कि नारी कोई अबला नहीं है, जब यह नारी शक्ति दुर्गा का रूप धारण कर लेती है तो उन्हें कोई नहीं रोक सकता। अपने इसी बल का प्रयोग कर ब्लेड सेना की नारियों ने उन दो टके की गुंडों का ही सिर नहीं बल्कि उन तमाम पुरुष प्रधान समाज का भी सिर झुकाया जो उनकी तलवे चाटते और गुलामी करते थे। मूलचंद का पालतू कुत्ता दम तोड़ चुका था, पुरुषों के चेहरे उतरे हुए थे और नजरें नीचे गड़ी हुई थी किन्तु स्त्रियों का मनोबल बुलंदियों पर था। उनके चेहरे पर साहस और शौर्य का चमक था। वे अपनी जीत के नारे लगा रहे थे इसी बीच सेना के एक नारी से रहा नहीं गया और अपने समाज के मर्दों को फटकारते हुए चिल्ला – चिल्ला कर कहने लगी – "**कौवा काट खाए तुम मरद जात वालों को। तुम्हारी अक्ल बगुला उड़ा ले गया क्या ? तुम मरद जात केवल परा – परोसा जानते हो। दाना–पानी कैसे आता है, तुम नहीं जानते। बहू बेटियों की इज्जत क्या होती है, तुम नहीं जानते । बेलगाम हमारे मुंह के कौर छिनते रहे , माँ बेटियों की इज्जत लुटती रही , और तुम्हारे कानों में जूं तक नहीं रेंगती। हाय मरद जात। राधिका तुझे दाद देती हूँ। तूने ब्लेड की एक ही टान में दुष्ट बीरजू की**

अंतड़ी बाहर कर दी। साला बीरजू माँ बेटी की इज्जत क्या चीज होती है, अब जान गया न। राधिकाबाई जिंदाबाद .....ब्लेड सेना जिंदाबाद .....करमु सरपंच मुर्दाबाद ..... मूलचंद हाय हाय .....राधिकाबाई .... ।"[19] उस नारी के हुंकार में आक्रोश था अपने पुरुष प्रधान समाज के प्रति। अगर उनका अपने लोग ही उन साहूकारों का साथ नहीं दिए होते तो उनकी इतनी हिम्मत नहीं होती और न ही आज यह दिन उन्हें देखने को मिलता।

रोज केरकेट्टा की रचनाओं में जो विद्रोह और संघर्ष है वह समाज के प्रति ही है। **केराबांझी , पगहा जोरी जोरी रे घाटो** शीर्षक कहानी में कैसे एक स्त्री अपने परिवार में अपने हक के प्रति प्रतिरोध करती हैं। यूँ तो आदिवासी समाज में बराबरी का हक है किन्तु जिस खामियों के कारण वह हक उन्हें नहीं मिलता है उसका प्रतिरोध वह किस प्रकार करती हैं वह स्पष्ट परिलक्षित होता है। केराबांझी की शिक्षित बहू कैसे अपने ससुर के ताने का डटकर जवाब देती है – **"आप मुझे केराबांझी कह सकते हैं। क्योंकि हमने , हाँ हम पति पत्नी ने मिलकर इसे स्वीकारा है।"**[20] इसमें वह इतनी दृढ़ता से अपने ससुर के सामने खड़ी होती है। समाज के जो पारंपरिक मूल्य हैं, उसको चुनौती देती है। संकल्प और निर्णय जो एक प्रगतिशील निर्णय है उसके पक्ष में खड़ी होती है। ऐसे ही उनकी अन्य कहानियाँ हैं जैसे लड़कियों की शिक्षा के सवाल पर जो भेदभाव दिखाई देता है, बसों में लड़कियों के साथ जो छेड़खानी होती है जिसमें वह मुक्के से मारती है। डॉ वीर भारत तलवार कहते हैं – **"एक जमाना था जब मैं झारखंडी राष्ट्रवाद की धारा में बहता था। तब मैं भी बोलता था कि झारखण्ड में तो स्त्री पुरुषों में कोई भेदभाव ही नहीं है। यह तो एक आदर्श समाज है, यहाँ समानता है। हमें चूँकि दूसरों से लड़ना होता था उस समय बिहार वालों से , यू. पी. वालों से तो इनके समाज से हमारा समाज बेहतर है यह दिखाना था, जैसे अंग्रेजी राज्य के दौरान भारत का अतीत जो है वह यूरोप से भी ज्यादा अच्छा है यह भारतीय दिखाते थे उसी प्रकार झारखण्ड आन्दोलन के दौरान यह दिखलाने की कोशिश की जा रही थी कि झारखण्ड का सब कुछ यू. पी. बिहार वालों से अच्छा है , लेकिन इसके जो अंदरूनी तनाव हैं , अंदरूनी अंतर्विरोध हैं उसको एक आदिवासी ही**

समझता है और यह बात कोई और नहीं किसी आदिवासी लेखिका ने ही उठाया है। शिक्षा के सवाल को जहाँ एक लड़की , जिसको शिक्षित बनने का संकल्प है वह किन तरीकों से शिक्षित होती है।"[21] रोज केरकेट्टा की कहानियों में जो नारीवाद है वह एक व्यवस्था का विरोधी नारीवाद है। पुरुषों का विरोधी नारीवाद नहीं है। **मैना** शीर्षक कहानी में हाट से लौटती जवान लड़कियों के साथ छेड़खानी होती है और बलात्कार करने की कोशिश भी होती है। गाँव की पंचायत तो पुरुषों की पंचायत है वह उन्हीं लड़कियों को दोषी ठहराती है कि तुम क्यों गई थी, ऐसे इतना और इस तरह के कपड़े क्यों खरीद रही थी। इतना बनाव और श्रृंगार करने की जरुरत क्या है? अकेले बाजार जाने की जरुरत क्या है? ऐसे में उन लड़कियों की जो लड़ाई है, न्याय की लड़ाई वह गाँव की लड़की और लड़के दोनों मिलकर लड़ते हैं। युवक और युवतियाँ दोनों मिलकर सांस्कृतिक संगठन बनाते हैं। हमें अपनी आजादी चाहिए। हमें अपने ढंग से रहने, घूमने की आजादी चाहिए। हम जो पहनना चाहते हैं, जहाँ जाना चाहते हैं जा सकते हैं। यह समाज का जो रवैया है लड़की के संग छेड़खानी होती है स्कूल जाते समय तो तय किया जाता है कि पढ़ाई छोड़ दो। बाहर के गुंडों से लड़ने की हिम्मत नहीं है। लड़कियों की पढ़ाई बंद करा दो। लड़कियों को ही सजा दो। ये जो इस प्रकार की नपुंसकता है मर्दवादी समाज की, इसको चुनौती देती हैं उस गाँव की लड़कियां अपने लड़के दोस्तों के साथ मिलकर बड़ा ही अर्थपूर्ण नारीवाद है यहाँ। कहानियों से स्पष्ट है कि इनका संघर्ष और प्रतिरोध सीधे कॉरपोरेट घरानों या अन्य जुल्मों के खिलाफ सिर्फ नहीं है बल्कि अपने ही परिवारों और समाज के खिलाफ भी है। वे जानते हैं कि आदिवासी समाज समानता और सामूहिकता का समाज है। अगर आदिवासी दर्शन के अनुसार उन्हें अपना अधिकार नहीं मिल रहा है जो मिलना चाहिए ऐसी स्थिति में वे अपने ही बीच खुलकर विद्रोह करते हैं।

आदिवासियों का वर्तमान और ज्वलंत संघर्ष कॉरपोरेट घरानों से है। जैसे जिंदल, मित्तल, बिड़ला, टाटा जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों से है। इन कंपनियों ने सैटेलाइट के माध्यम से यहाँ की खनिज संपदाओं पर अपनी बुरी नजर डालकर उसे हासिल करने की हर कोशिश किये हुए हैं। औद्योगीकरण का हवाला देकर वे राज्य

सरकारों को लुभाते रहे हैं यही कारण है कि आदिवासी राज्य झारखण्ड बनने के साथ ही यहाँ की सरकार ने औद्योगिक घरानों के साथ एम.ओ.यू. की झड़ी लगा दी है। झारखण्ड राज्य की परिकल्पना जिस उद्देश्य से की गई थी यहाँ के आदिवासियों को बिलकुल उसके विपरीत रूप में मिला। राज्य और केंद्र सरकार को सिर्फ यहाँ के खनिज सम्पदा से मतलब है। आदिवासियों की स्थिति से उन्हें कोई लेना देना नहीं है। आदिवासियों को इतना तो मालूम पड़ ही गया है कि सरकार उनके लिए कुछ नहीं कर सकती और यह भी जानते हैं कि विकास के नाम पर उनका विनाश ही हो रहा है इसीलिए वे उसका पुरजोर विरोध कर रहे हैं। देखा जाए तो कैसे वहां के आदिवासी और मूलनिवासी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ाईयां लड़ रहे हैं– कभी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ तो कभी राज्य सरकार के खिलाफ। सी• एन• टी•, एस• पी• टी• एक्ट में किये गए संशोधन के विरोध में उनकी लड़ाई राज्य से लेकर केंद्र तक पहुँच गई है। पूर्वजों ने अपनी जान देकर ये एक्ट बनवाया है जिससे हमारी जमीनें बची हुई है। हालांकि कानून बनने के बावजूद भी इस कानून की बहुत धज्जियाँ उड़ाई गई है तो हम समझ सकते हैं अगर इस कानून में संशोधन किया जाए और हम हाथ में हाथ धरे बैठे रहें तो हमारा क्या हश्र हो सकता है। हम जानते हैं हमारी पहचान क्या है और हम ये भी जानते हैं कि ये संशोधन क्यों किया जा रहा है ? तब कोरे कागजों में अंगूठे का निशान चोरी चुपके या विभिन्न साजिशों के जाल में फंसाकर लिया जाता था अब खुलेआम होगा। ऐसे में हमारी, हम आदिवासियों की बर्बादी निश्चित है। अर्थात सी• एन• टी•, एस• पी• टी• एक्ट में संशोधन मतलब आदिवासियों की बर्बादी। जरुरत है समय रहते हमें मौजूदा सरकार की साजिश को समझने का, और सी• एन• टी•, एस• पी• टी• एक्ट में हो रहे छेड़छाड़ के विरुद्ध एकजुट होकर आवाज उठाने का; क्योंकि अभी नहीं तो फिर कभी नहीं।

अपने अस्तित्व की रक्षा वहाँ के मूल निवासी अपनी जमीन अपनी पहचान के लिए जान देने को तैयार हैं। उनका नारा है –

"जान देंगे जमीन नहीं देंगे ।

जल, जंगल, जमीन हमारा है।

किसानों की जमीन मत लूटो।

आदिवासी मूलवासी का विस्थापन बंद करो।

बहुराष्ट्रीय कम्पनी वापस जाओ।

जिंदल मित्तल का कारखाना नहीं बनेगा।

हमारे गाँव में हमारा राज।

बिरसा मुंडा, सिदो कान्हू अमर रहे।

सी.एन.टी. एक्ट का छेड़छाड़ बंद करो।

सौ सौ गोली खायेंगे फिर भी जमीन नहीं देंगे।"[22]

जान देंगे जमीन नहीं देंगे इस नारे से स्पष्ट है कि उनको अपनी माटी से कितना प्यार है। वे जान देकर भी उसकी रक्षा करने को तैयार हैं। संजय बसु मल्लिक ने **झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष** के प्राक्कथन में लिखा है – **"जान देंगे, जमीन नहीं देंगे जैसा नारा लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के अन्दर से उपजा है। जमीन उसके लिए संस्कृति है पूँजी नहीं। जमीन का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थ है। यह जीवन का अस्तित्व बरकरार रखता है न कि इससे सिर्फ आजीविका चलती है। इस तरह से जमीन को मां के रूप में माना जाता है जो अपने बच्चों को दूध पिलाती है। लोग चकित हैं कि बच्चा कैसे दूध के बदले माँ का खून पी सकता है। इसलिए झारखण्ड के बच्चों ने स्पष्ट सन्देश दे दिया है कि वे अपनी मातृभूमि को सुरक्षित रखेंगे चाहे इसके लिए उन्हें क्यों न अपनी जान की कीमत चुकानी पड़े।"**[23] मुझे लगता है और हमारे आदिवासी युवा क्रांतिकारियों ने भी यह मान लिया है (जल, जंगल और जमीन को बचने हेतु, विभिन्न सरकारी योजनाओं के विरोध रैलियों के

आधार पर) कि ये आदिवासियों के स्वभाव के अनुरूप नारा है। जरुरत है आज की तारीख में **न जान देंगे न जमीन देंगे** जैसे नारों की।

ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – **"2008 में मित्तल कंपनी विस्थापन विरोधी आन्दोलन को दबाने हेतु सी.एस.आर. जैसे कार्यक्रम के माध्यम से लोगों को करोड़ो रूपये दिखाकर क्षेत्र में घुसने की पूरी कोशिश कर ली थी। उधर आदिवासी अस्तित्व रक्षा मंच ने भी विस्थापन के खिलाफ आन्दोलन तेज करने हेतु एक बार फिर रणनीति बनाई। 8 से 17 फरवरी 2008 तक तोरपा एवं रानिया के कई गांवों में आन्दोलन को मजबूत करने हेतु बैठक किया गया। इस दौरान कर्रा, कामडारा, तोरपा एवं रानिया प्रखंड में विशाल रैली एवं आम सभा का आयोजन करने की योजना भी बनाई गई।"**[24] इससे स्पष्ट है कि सीधे–साधे आदिवासियों को कई तरह का लालच देकर उन्हें अपने ही जमीन से बेदखल करने का सिलसिला आदिकाल से लेकर आजतक जारी है। कोयल कारो परियोजना, नेतरहाट फायरिंग रेंज जैसी कई परियोजनाएं हैं जो आदिवासियों को लीलने के लिए मुँह बाए खड़ी है। आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में ऐसे कई योजनाओं का जिक्र है। **फायरिंग रेंज** शीर्षक कहानी में विरोध के रूप में आदिवासी जागृति के नृत्य गीत गाये बजाये गए थे। सबके दिलों की गहराइयों में गीत के ऐसे बोल उठे थे, सभी बेफिक्र गा रहे थे –

"ओहरे नागपुरिया एका तरा कादर

ऐंदेरगे राजीन सुना नन्दा

किर्रा बरा , किर्रा बरा हो।"[25]

(हे छोटानागपुर के लोग , क्यों गाँव को सूना करके जाते हो , लौट के आओ , लौट के आओ)

उनके गीतों की ताकत देखिये –

"भावनाओं के समुन्दर में बहते ऐसे लोगों वे विशाल हुजूम को देखकर पूरी यूनिट एक–ब–एक खामोश रुक गई थी। ट्रकों की लम्बी कतार में सहसा ब्रेक लग गया था। सबके पाँव थम गए थे। बेबस मासूमों की जमात के आगे हथियार बेकार हो गए थे। वे ही नौजवान , वे ही हथियार जो सरहद की हिफाजत में कामयाब साबित होते थे , आज यहाँ बेबस , खामोश खड़े हो गए थे। मनाने की तमाम कोशिश की गई थी पर सभी बेकार साबित हुए। सदर से फरमान आते ही पूरी यूनिट मुख्यालय लौट गई थी।"[26] इसी प्रकार की इन आदिवासी साहित्यकारों की कई रचनाएं हैं जहाँ पर उनके संघर्षों और एकता के माध्यम से जल, जंगल और जमीन को बचाने की कोशिश की गई है। वाल्टर भेंगरा तरुण की कहानी है **जंगल की ललकार** इसमें कैसे वे मिलकर जंगल पर सरकार का अधिकार आ जाने के बाद जंगल को बचाने के लिए अपनी खुटकट्टी जमीन पर जंगल लगाता है – **"हम अपना जंगल लगा रहे हैं, आबा! यह गाँव का जंगल होगा। इसे सरकार भी नहीं ले सकती है। यह हमारी रैय्यती खुटकटी जमीन है। अब हमें तुम्हारे समान जेल जाना नहीं पड़ेगा। हम अपने पेड़ों की लकड़ियाँ काटेंगे। कोई सिपाही मंगरी या चानो को पकड़ कर नहीं ले जायगा।"**[27] पीटर पॉल एक्का का उपन्यास – **पलास के फूल, सोंन पहाड़ी, जंगल के गीत , मौन घाटी** तथा कई कहानियाँ हैं जहाँ उनके संघर्षों को दिखलाया गया है। सोन पहाड़ी को ही लें यहाँ पर कोकिला परियोजना से पूरा इलाका डूब जाता है किन्तु इससे पहले उनके संघर्ष के माध्यम से ही उन लोगों को पुनर्स्थापित किया जा सका है। उनके संघर्षों का नारा है –

"कोकिला परियोजना

नहीं चलेगा, नहीं चलेगा

जब तक मांग हमारा

पूरा नहीं होगा

काम आगे

नहीं बढ़ेगा, नहीं बढ़ेगा

धोखे का नीति

नहीं चलेगा, नहीं चलेगा।"[28]

आदिवासियों के संघर्ष का इतिहास बताता है कि इनका संघर्ष ही प्राकृतिक संसाधनों – जल, जंगल, जमीन, खनिज और पहाड़ को बचाने के लिए है। चाहे यह संघर्ष आजादी के पहले अंग्रेजों की खिलाफ हो या वर्तमान शासकों के विरुद्ध। वे यह समझ चुके हैं कि प्रकृति में ही उनका अस्तित्व है, इसलिए वे अपने संघर्ष से प्रकृति, संसाधन एवं स्वयं को बचाएँगे। भगवान बिरसा मुंडा ने उलगुलान से यही सन्देश दिया था कि **उलगुलान का अंत नहीं**। वे यह जानते थे कि आदिवासियों से उनका संसाधन लूटा जायेगा, इसलिए उलगुलान ही उसका जवाब है।

आदिवासियों के बारे में, उनकी समस्याओं और संघर्षों पर जब भी चर्चाएँ होती है तो अक्सर यह सवाल सामने आता है कि वे हमेशा समस्याओं का ही रोना क्यों रोते हैं? क्या इससे उबरने के लिए जमीनी स्तर पर कोई कार्य हो रहे हैं या कोई लड़ाइयां लड़ी जा रही है? अगर है तो इनकी अस्मिता की जो लड़ाई है वह कहाँ तक सार्थक है? ऐसे सवालों के उत्तर में कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं के हवाले से स्पष्ट करना उचित होगा। आज की तारीख में अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई में कई ऐसे नाम हैं जिनमें मुख्य रूप से सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग और दयामनी बरला का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने लेखनी के माध्यम से ही नहीं बल्कि मुद्दे के तह तक जाकर अध्ययन और लड़ाइयां लड़ रहे हैं। इनकी सक्रियता को देखकर सरकार ने भी यह मान लिया है कि जब तक ये सामाजिक कार्यकर्ता सामने हैं कुछ भी आसानी से हासिल नहीं किया जा सकता है। हम ये जानते हैं कि आदिवासियों द्वारा अपने अस्तित्व की लड़ाई सदियों से लड़ी जा रही है। नीचे कुछ ऐसे ही घटनाओं का जिक्र किया जा रहा है जो यह साबित करता है कि कमजोर लोग भी बड़ी ताकतों को घुटने टेकने पर मजबूर कर सकते हैं ये प्रत्यक्ष रूप से छोटे एवं पृथक जरुर हैं फिर भी ये आंतरिक रूप से मजबूत हैं और सामान्य रूप से डर भी पैदा करते हैं। इन सभी आन्दोलनों से

जुड़े लोगों का एक ही मत है कि उनकी जमीन खरीद बिक्री की वस्तु नहीं है और वे विकास का ग्राहक नहीं बनेंगे। सुनील मिंज और ग्लैडसन डुंगडुंग की पुस्तिका **झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष** के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों की सक्षिप्त जानकारी नीचे दी जा रही है। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि आदिवासियों का संघर्ष कहाँ तक सार्थक हैं? वे किन–किन परियोजनाओं का विरोध कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं? अर्थात मोटा–मोटी ये उन आंदोलनों के बारे में एक झलक मात्र है –

कुछ आंदोंलन एक झलक में –

1. **परियोजना का नाम – जल विद्युत परियोजना**

परियोजना का प्रकार – वृहत डैम

परियोजना की लागत – 10 करोड़

परियोजना की उत्पादन क्षमता –710 मेगावाट

संभावित विस्थापितों की संख्या –256 गाँव के 1 लाख पचास हजार लोग

आन्दोलन की शुरुआत – 1974 –75

कोइलकारो आन्दोलन का एकीकरण – 1975 –76

काम रोको अभियान – 1977 –78

आयुक्त एवं उपयुक्त के साथ आमसभा –1980

आयुक्त एवं संगठन के साथ वार्ता –जुलाई, 1984

लोहाजिमी में सशस्त्र बल का आगमन –जुलाई, 1984

लोहाजिमी कैम्प में घुटन भारी जिंदगी– जुलाई, 1984

सड़क पर खेती – जुलाई, 1984

मामला सर्वोच्च न्यायलय में – 1984

डेरांग में नाका – 1984

जनता कर्फ्यू – 1 जुलाई से 5 जुलाई 1995

तोरपा, तपकर और तेतरा में सत्याग्रह – 5 जुलाई 1995

तपकारा गोलीकांड – 2 फरवरी 2001

परियोजना की अद्यतन स्थिति – परियोजना वापसी की घोषणा 2008[29]

2. **परियोजना का नाम – चिरोकुकुद बॉक्साइट माईन्स**

परियोजना का प्रकार – खनन

जमीन की जरुरत – 1175 एकड़

संभावित विस्थापितों की संख्या –22 गाँव के 6000 लोग

आन्दोलन की शुरुआत – अप्रैल 1987

पाट अग्रगामी संघ की स्थापना – 4 जनवरी 1987

कंपनी प्रबंधक का भारी विरोध – 14 जून 1987

प्रतिनिधि मंडल की उपायुक्त से मुलाकात – जुलाई 1987

गैर मजरुआ जमीन के बंदोबस्ती की मांग – जुलाई 1987

ठेकेदारों का आगमन – 28 फरवरी 1988

हिंडाल्को के मैनेजर का आगमन – 14 जून 1993

आन्दोलनकारियों की गिरफ्तारी – 15 जून 1993

धर्मांतरण के नाम पर आन्दोलन पर हमला – 1994

जमीन देने वालों पर कार्रवाई – 15 अक्टूबर 1996

ग्रामीणों का भारी विरोध – ३० अक्टूबर 1996

बाहरी मजदूरों का बहिष्कार – अक्टूबर नवम्बर 1996

महुआडांड में प्रदर्शन – 23 दिसम्बर 1996

ग्रामीणों बेमियादी धरना –29 जनवरी से 2 फरवरी 1997

अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल – 6 से 9 फरवरी 1997

परियोजना की अद्यतन स्थिति – परियोजना रुका हुआ है।[30]

3. परियोजना का नाम – उच्च शिक्षण संस्थान

परियोजना का प्रकार – इन्फ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट

जमीन की जरुरत – 227 एकड़

संभावित विस्थापितों की संख्या – 1 गाँव के 600 परिवार

आन्दोलन की शुरुआत – 2012

राजभवन का घेराव – 27 जनवरी 2012

अनिश्चितकालीन सत्याग्रह – 3 मार्च 2012

विधान सभा में सवाल – 4 मार्च 2012

महासभा का आयोजन – 23 अप्रैल 2012

बार एसोसिएशन एवं रैयतों द्वारा याचिका दायर –मई 2012

जनी शिकार रैली एवं राजभवन का घेराव – 9 जून 2012

ग्रामीणों ने दीवार तोड़ा – 4 जुलाई 2012

रांची पतरातू मार्ग जाम – 5–8 जुलाई 2012

उच्च स्तरीय कमेटी गठित – 10 जुलाई 2012

नगड़ी चौंरा में विशाल जनसभा का आयोजन –15 जुलाई 2012

उच्च स्तरीय कमेटी की पहली बैठक– 16 जुलाई 2012

झारखण्ड बंद का आह्वान – 24 –25 जुलाई 2012

धान कटाई आन्दोलन – 21 नवम्बर 2012

विधानसभा में धान की बाली का वितरण – 4 दिसंबर 2012

परियोजना की अद्यतन स्थिति – परियोजना रुका हुआ है।[31]

इस प्रकार ऐसे ही कई परियोजनाएँ हैं, जैसे **नेतरहाट पायलट प्रोजेक्ट फिल्ड फायरिंग रेंज, ओरंगा जलाशय परियोजना, उत्तरी कोयल जलाशय परियोजना, काठीकुंड थर्मल पॉवर प्रोजेक्ट, इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट(खूंटी) तथा इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट(पोटका)**। इन सभी परियोजनाओं के लिए हजारों लाखों आदिवासी विस्थापित हुए हैं तथा होने वाले हैं। इन्हीं समस्याओं से बचाने के लिए जमीनी स्तर पर संघर्ष जारी है, जिससे अधिकतर परियोजनाएं रुकी हुई हैं तथा जो चालू है उसके लिए संघर्ष जारी है। आदिवासियों की जमीन से विकास चाहने वाले कहेंगे कि आदिवासी लोग विकास विरोधी हैं। कौन नहीं चाहता विकास? बदलते समय के साथ सभी को हर प्रकार की सुविधाएँ चाहिए लेकिन ऐसे सुविधाओं और विकास का खामियाजा भुगतता कौन है?...सिर्फ और सिर्फ उस जमीन के मालिक। जादूगोड़ा यूरेनियम खनन को ही ले लीजिए। वहाँ के भोले–भाले आदिवासियों को नहीं पता कि यूरेनियम खनन से निकलने वाली रेडियोएक्टिव विकिरण से तरह–तरह की भयानक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। विकिरण के चलते कैंसर से मरना या विकलांग बच्चे का जनना या फिर गर्भ में ही बच्चे का मरना, इन सबका कारण ये यूरेनियम खनन को नहीं बल्कि अपने समाज में ही कमियाँ निकालकर, अपने ही समाज की किसी महिला को डायन बताकर उसकी हत्या

कर दी जाती है। इन समस्याओं से बचने के लिए जो संघर्ष किया जा रहा उसे आप क्या कहेंगे?... विकास या विकास विरोधी ?

इस प्रकार जल, जंगल, जमीन, खनिज और प्राकृतिक संसाधनों को बचाने की लड़ाई झारखंडी लोग पिछले 300 वर्षों से लड़ते आ रहे हैं, जिसकी शुरुआत अंग्रेजी हुकूमत द्वारा जमीन पर लगान लगाने और पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था को कुचलने के खिलाफ सर्वप्रथम पहाड़िया नेता बाबा तिलका मांझी के नेतृत्व में शुरू हुआ जो आगे चलकर कहीं कोल विद्रोह ,संथाल हूल तो कहीं बिरसा उलगुलान के रूप में समय–समय पर सामने आया। लेकिन इस लड़ाई का अभी तक कोई स्थायी समाधान नहीं निकल पाया है बल्कि समस्या बद से बदतर होती ही गई है।

सन्दर्भ

[1]क्रॉसफायर, ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृष्ठ संख्या – 8–9

[2]जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृष्ठ संख्या –108

[3]वही, पृ• सं• –106

[4]राजकुमारों के देश में, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –5

[5]वही, पृ• सं• –125

[6]क्रॉसफायर, ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृष्ठ संख्या – 7

[7]राजकुमारों के देश में, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –128

[8]ए' अ नव कानिको (सात नई कहानियाँ), डॉ रामदयाल मुंडा, पृष्ठ संख्या –19

[9]राजकुमारों के देश में, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –95

[10]वही, पृ• सं• –95

[11]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –115

[12]आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, सं. रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या –40

[13]आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, सं• अनुज लुगुन, पृष्ठ संख्या –ix

[14]ए' अ नव कानिको (सात नई कहानियाँ), डॉ रामदयाल मुंडा, पृष्ठ संख्या –81

[15]क्रॉसफायर, ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृष्ठ संख्या –10–11

[16]वही, पृ• सं• –15

[17]हाशिये का वृतांत, सं. दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, लेख केदार प्रसाद मीणा, पृष्ठ संख्या –363

[18]महुआ का फूल, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या –28

[19]वही, पृ• सं• –29

[20]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –32–33

[21]पगहा जोरी–जोरी रे घाटो, समीक्षकों की नजर में, लेख वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –20

[22]उलगुलान का सौदा, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –26 –27

[23]झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष, सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग पृष्ठ संख्या–(प्राक्कथन)

[24]उलगुलान का सौदा, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –27

[25]परती जमीन, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –145

[26]वही, पृ• सं• –146

[27]जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृष्ठ संख्या –111

[28]सोन पहाड़ी, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –111

[29]झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष, सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या–16

[30]वही, पृ• सं•–54

[31]वही, पृ• सं•–118

अध्याय छः

झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य में प्रेम, विवाह और स्त्री पुरुष सम्बन्ध :–

आदिवासी समाज में प्रेम, विवाह और स्त्री–पुरुष संबंधों को लोककथाओं के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है। हम जानते हैं कि आदिवासी समाज में धुमकुड़िया, घोटुल, पेल्लोएड़पा, गीतिओड़ा या अखड़ा जैसी संस्थाएं थीं। ये संस्थाएं मनोरंजन से लेकर शिक्षा का केंद्र भी हुआ करते थे। हम यह जानते हैं कि घोटुल, धुमकुड़िया जैसी संस्था में विवाहितों का प्रवेश वर्जित होता था। इसमें आदिवासी समाज के युवक–युवतियाँ एक साथ सोते उठते और बैठते थे।

चूँकि आदिवासी समाज में घोटुल, धुमकुड़िया जैसी संस्थाएं थी जहाँ युवक–युवतियों का उनकी मर्जी से सोना, उठना, बैठना होता था। सवाल यह है कि क्या ऐसी परिस्थिति में स्त्री पुरुष सम्बन्ध नहीं होते थे? क्या विवाह पूर्व बच्चा पैदा नहीं होता था? इन लोककथाओं से तो यही लगता है कि इन्हीं संस्कृति का नतीजा है क्योंकि तब परिवार की कल्पना भी नहीं की जाती थी। रोज केरकेट्टा ने आदिवासी परंपरा में औरत शीर्षक वक्तव्य में कहा है – "**आदिवासियों की अतिप्राचीन संस्कृति को लोक साहित्य में देखें तो पाएँगे कि स्त्री आदिम युग में अपने आप में सम्पूर्ण थी, विशेषकर लोककथाओं में। तब स्त्री की भूमिका आज से बिल्कुल अलग थी। एक लोककथा का उद्धरण देखें – एक स्त्री लकड़ी लेने जंगल गई और जंगल में उसे प्रसव पीड़ा शुरू हो गई और उसने वहीं एक पुत्र और एक पुत्री जने। तत्काल ही उस स्त्री ने निर्णय लिया कि वह पुत्र को वन में छोड़ देगी क्योंकि पुत्र उसके कामों में मददगार तब होगा जब बकरी चराने या हल जोतने की उम्र पायेगा लेकिन पुत्री पांच छः वर्ष की होते ही आँगन बुहारेगी और साग तोड़ेगी।**"[1] एक अन्य लोककथा में "**एक स्त्री वन में लकड़ी बटोरने जाती है तो वह जंगल के वन्य जीवों से गुहार लगाती है कि बोझा उठाने में कोई आकर उसकी मदद करे। इस मदद के एवज में वह प्रतिज्ञा करती है कि यदि उसे बेटा होगा तो वह उस वन्य जानवर से उसकी यारी लगवा देगी, यदि**

बेटी हुई तो वह उससे उसका विवाह करवा देगी। कालांतर में उसे बेटी पैदा होती है और स्त्री अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस जानवर से बेटी की शादी करवा देती है।"[2]

इन लोककथाओं के तह तक हम जाएँगे तो पाएँगे कि कैसे वह लड़की खुशी–खुशी उस वन्य जीव से शादी करने के लिए तैयार हो जाती है। उसके सामने विरोध करने की कोई गुंजाईश ही नहीं रहती है। वह खुशी–खुशी उस वन्य जीव के साथ निकल जाती है वह मानती है कि जिनके साथ शादी हुई है वही उनका राजा है। जब वह चलते–चलते थक जाती है तो वह गाना गाते हुए अपने वन्य पति से पूछती है – "**कतई दूर राजा तोहर घर राजा तोहर घर?"[3]**(कितना दूर है राजा तुम्हारा घर राजा तुम्हारा घर ?) इसके उत्तर में वन्य जीव पति अपनी पत्नी को ढाढ़स बंधाते हुए कहता है – "**दिसोथे रानी पोंयरी पाहार रानी पोंयरी पाहार**।"[4](दिख रहा है रानी पोंयरी (पहाड़ का नाम) पहाड़ रानी पोंयरी पहाड़)। उसी प्रकार रोजमर्रे की दिनचर्या में वह हर रोज जंगली फल–फूल, कंद–मूल की खोज में निकल जाता। जब तक वह वापस आता तब तक रानी घर का सारा काम कर चुकी होती थी। जैसे ही वह जंगल से वापस आता वह दरवाजा खटखटाता। दरवाजा खटखटाने का जो तरीका होता था वह बहुत ही मजेदार और दिलचस्प होता था ताकि अन्दर से रानी आसानी से समझ सके कि बाहर उनका पति ही है यथा – "**टिंकी टिपिड़, टिंकी टिपिड़ कांदा रानी ले भीतर करू रानी ले भीतर करू ...करू।"[5]**(टिंकी टिपिड़, टिंकी टिपिड़(गीत के माध्यम से खटखटाने का तरीका) कंद रानी लो अन्दर कर लो, रानी अन्दर कर लो ....कर लो)। इन सब लोककथाओं से यह स्पष्ट होता है आदिवासियों का जंगल से रिश्ता कितना मजबूत था। तभी तो संतानों को वन्यप्राणियों के साथ रिश्ता कराने में कोई परेशानी नहीं थी। शादी के बाद इनके रिश्तों में भी एकनिष्ठता दिखाई देती थी। इन लोककथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि तब लोग एक कबिलाई के रूप में रहकर ही अपना जीवन बसर कर रहे थे। अपना जीवन और रहन–सहन में जंगल और जंगल के वन्य जीव भी उनके सहचर हुआ करते थे।

आदिवासी समाज में गोत्र और परिवार के बारे में रोज केरकेट्टा कहते हैं –"**जब तक आदिवासी समाज में गोत्र का बंटवारा हुआ तब तक परिवार की**

अवधारणा बन चुकी थी। और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ–साथ सहयोगिनी के रूप में प्रतिष्ठित थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। एक लोककथा में एक पति पत्नी मिलकर तीन रोटियाँ बनाते हैं। पति दो रोटियां खाना चाहता है जिसके लिए वह तर्क देता है चूँकि वह चावल लाया है, जो एक कठिन काम था, पर इसके बावजूद उसने इसे किया। इसलिए उसे दो रोटी मिलनी चाहिए। इस पर स्त्री कहती है कि वह दो रोटी खाने की इसलिए हकदार है क्योंकि उसने लकड़ी ढूंढ़ी, चावल पीसा और रोटी पकाई। इसलिए उसने पुरुष से अधिक काम किया। यानी काम के आधार पर उसे बराबरी का हक मिलना चाहिए।"[6]

इस लोक कथा से स्पष्ट है कि खाने पीने तक में भी स्त्री का सामान अधिकार है और समाज में बराबरी का हकदार भी है। लोककथाओं के माध्यम से ही हम जानते हैं कि आदिवासी समाज में स्त्री–पुरुष में कोई भेदभाव नहीं किया जाता है तथा सम्पत्ति पर भी स्त्री–पुरुष दोनों का अधिकार है। किन्तु सच्चाई यह है कि आदिवासी समाज में भी सम्पत्ति को लेकर असमानताएँ हैं। सम्पत्ति पर पुरुष का ही अधिकार है। यहाँ भी पुरुष प्रधान समाज है। इन असमानताओं को रोज केरकेट्टा ने अपनी कहानियों में स्पष्ट रूप से दिखाया है।

सम्पत्ति पर स्त्री के हक को लेकर संताल परगना की आदिवासी महिलाओं के अधिकार और सशक्तिकरण के लिए रचनात्मक कार्य करने वाली युवा लेखिका बिटिया मुर्मू लिखती हैं – "**आदिवासी स्त्री नियति का बड़ा सवाल सम्पत्ति से जुड़ा है। आजतक वह चल–अचल सम्पत्ति में कानूनन अधिकारी नहीं हो पायी है। परंपरागत व्यवस्था के आधार पर यदि समाज चाहेगा तो उसे सम्पत्ति में हिस्सा मिलेगा नहीं तो महिला को उसका अधिकार नहीं मिलेगा। वैसी स्थिति में महिला को डायन कहकर हत्या करना घर से निकाल देना जैसी घटनाएं रोज घट रही हैं।"[7]**

प्रेम विवाह और स्त्री पुरुष सम्बन्ध को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो सबसे पहले सवाल आता है प्रेम क्या है? इस सवाल पर अगर हम विचार करते हैं तो उत्तर मिलता है – किसी चीज को मन से बहुत चाहने को प्रेम कहते हैं। अतः

मनुष्य के लिए प्रेम एक व्यक्तिगत भावना है। सिर्फ प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम ही प्रेम नहीं कहलाता है। चूँकि प्रेम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मांग करता है। इसलिए देखा जाए तो कही प्रेम आकर्षण से मिलता है तो कहीं सुख सुविधा से मिलता है। अगर प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में कहा जाए तो दो दिलों का मिलन ही प्रेम है, जो आकर्षण से पैदा होता है और बाद में विवाह का रूप लेता है। यह जरुरी नहीं है कि हर आकर्षित करने वाला प्रेम विवाह में बदल जाए। इसमें डर और भय के साथ–साथ बंधन हमेशा बना रहता है। ऐसे प्रेम को क्षणिक प्रेम भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रेम बांधने में नहीं, मुक्त करने में है।

चूँकि प्रेम एक व्यक्तिगत भावना है जो धर्म, जाति या बिरादरी देखकर नहीं की जाती है। प्रेम को इससे कोई मतलब भी नहीं है। रोज केरकेट्टा प्यार की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए अपनी कहानी मैग्नोलिया पॉइंट में लिखती हैं – **"उनके बीच भाषा की बाध्यता थी पर दोनों की आँखें बोलती थी।"**[8] रूपलाल बेदिया इस सन्दर्भ में लिखते हैं – **"धर्म और जाति देख–जानकर दिल कहाँ मिलते हैं। जवान लड़के–लड़की तो स्वाभाविक रूप से एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं । लेकिन इस स्वाभाविक आकर्षण में रोड़े अटकाने वालों की कमी नहीं।"**[9] और यह सच भी है प्यार न जात, न बिरादरी, न धर्म, और न ही रंग रूप देखता है। इस उक्ति को स्पष्ट करते हुए मंगल सिंह मुंडा ने भी अपने उपन्यास **छैला सन्दू** में लिखा है – **"हे निरीह फटेहाल शिकारी! तुझे चाहे दुनिया निरीह फटेहाल समझे पर मैं तुझमें जीवन की सदाबहार हरियाली देख रही हूँ। तेरा चंचल चेहरा ही बेशकीमती रेशमी चादर है। तुम्हारे होठों की लाली ही गुलाब की पंखुड़िया है। तेरे मधुर हंसी की खिलखिलाहट ही सुमन सौरभ का बहाव है। आ, मैंने तुझे अपना दिल दे दिया है। आ। तू रोज आ। हम दोनों एक दूसरे को प्यार करेंगे।"**[10]

माना किसी युवक या युवती का, किसी के साथ कोई प्रेम सम्बन्ध नहीं है और वह विवाह के योग्य है तो वह इस हालत में क्या करता है? आदिवासी प्रथा के अनुसार हम यह जानते हैं कि अगर कोई लड़का किसी लड़की के सिर पर कंघी रख देता है या मेले में उसका हाथ पकड़ लेता है तो इसे उसका विवाह निश्चित

मान लिया जाता है। इस तरह के विवाह को लेकर वीर भारत तलवार झारखण्ड के आदिवासी मुंडा समुदाय के बारे में लिखते हैं – "**विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के सिलसिले में सबसे कठोर नियम यही है कि विवाह सम्बन्ध एक ही गोत्र के अन्दर स्थापित नहीं किया जा सकता और दूर या निकट के भाई बहन जैसे संबंधों में नहीं किया जा सकता। विवाह की आम तौर पर दो पद्धतियाँ हैं – एक परंपरागत और प्रथाओं के साथ पूरा होने वाला विवाह ,दूसरा बिना संस्कारों का विवाह। बाद वाले तरीके में मुंडा युवक अपनी मनपसन्द लड़की को उसकी सहमति से (कभी –कभी बलपूर्वक भी) किसी मेले, नृत्य के अखाड़े या हाट से अपने घर लेता है और घरवालों से कहता है कि यह मेरी पत्नी है। लड़की और लड़के के अभिभावकों के बीच यदि इस विषय पर मतभेद सुलझ जाएँ तो कुछ गोनोंग की अदायगी के बाद दोनों पक्षों के अलावा समाज भी इस तरह के विवाह को मान्यता दे देता है।**"[11] हालाँकि यह शोभनीय नहीं माना जाता है। अपने मर्यादा का ख्याल रखकर सामान्य आर्थिक स्थिति वाले लोग इस तरह का विवाह करना पसंद नहीं करते। किन्तु जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होती है वे इसी तरह के विवाह को अपनाते हैं जिसे ढुकू विवाह भी कहते हैं। प्यारा केरकेट्टा कृत **बेरथा का ब्याह** शीर्षक कहानी से यह स्पष्ट हुआ है कि ईसाइयत के प्रभाव के बाद शादियों में ज्यादा ताम–झाम तथा कई तरह के रीति–नीति बनाये गए। वे लिखते हैं –"**उससे पहले सौंसार (मूल आदिवासी धर्म सरना रीति का विवाह) विवाह होता था। ईसाई होने के साथ ही विवाह में मांस–भात का चलन आ गया। घर देखी, सर–जमीन देखी, चिलम पोड़ाउनी, सुखमुड़ देखना, सुखमुड़ लाने जाना, डंड़अ ओएंग आदि नेगों व रस्मों, रीति–रिवाज के नाम पर कई–कई बार वर के घर जाने लगे थे। ऐसा दस्तूर पहले नहीं था।**"[12] ऐसे नियम बनने से खर्चा बढ़ने लगा। ब्याह वाले का घर माघ महीना के अंत अंत तक ही खाली हो जाता था। यही कारण है कि लड़का–लड़की अगर सहमत हैं तो, या तो घर से बाहर परदेश भाग जाते हैं या फिर लड़का–लड़की को भगाकर अपने घर ले आता है। **बेरथा का ब्याह** में बेरथा का ब्याह ईसाई रीति से हुई थी, जिसके कारण घर का सारा अन्न ब्याह के साथ ही साथ खाली हो गया था। किन्तु साल लगे बिना ही वह विधवा हो गई। उसे जब दूसरे शादी का मौका मिला तो इन्हीं तामझाम, विभिन्न रीति–रिवाजों और खर्चों से बचने के लिए वह घर से भाग जाती

है। इस उक्ति को कहानीकार प्यारा केरकेट्टा इस प्रकार लिखते हैं– "**इसके बाद किसी एक दिन सुबह घर वालों को पता चला कि बेरथा घर पर नहीं है। गाँव में परिचितों के बीच काना फूसी हुई। किसी ने कुछ, किसी ने कुछ कहा। थोड़े दिनों के बाद सुना गया कि दंदु पौलुस भी भाग कर असम चला गया। सबकुछ जानने के बाद गाँव के बुजुर्गों ने सिर्फ इतना कहा –जब दोनों एक दूसरे को पसंद करते थे तो उन्हें मिला देना चाहिए था। बेरथा के घरवालों ने बड़ी भूल की। कांच–कुंवार लड़की की तरह दुनिया भर कर नेग जोग मांगने लगे। भोज–भात बड़ा है या इज्जत। दूसरे का खाने के लिए मुंह फाड़े रहते हैं। अच्छा हुआ झूठी परम्पराओं को ठुकराकर चली गई।**"[13]

उपर्युक्त प्रथाओं के अनुसार सवाल ये उठता है कि अगर कोई लड़का किसी लड़की के सिर पर कंघी रख देता है या मेले में उसका हाथ पकड़ लेता है तो इसे उनका विवाह निश्चित मान लिया जाता है। क्या ऐसे में लड़की को परेशानी नहीं होती होगी? क्या वह कभी विरोध नहीं करती होगी? लड़की है इसका मतलब ये तो नहीं कि वह किसी से भी शादी कर ले। इन सभी सवालों का जवाब वर्तमान आदिवासी जीवन परिवेश को देखकर ठीक–ठीक बता पाना मुश्किल है क्योंकि आज का माहौल बिल्कुल अलग है, उस प्रथा के बिल्कुल विपरीत है। यह तो सच है कि साप्ताहिक हाट बाजार या मेला, युवक–युवतियों का एक दूसरे को देखने या मिलने का स्थान हुआ करता था। ऐसे में लाजिमी है कि अपने प्यार को सुरक्षित करने अपनी शादी निश्चित करने के लिए यह किया जाता रहा होगा ताकि दूसरे उसपर नजर न डालें। इस प्रकरण को पुष्ट करते हुए पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यास **पलास के फूल** और **सोन पहाड़ी** में यह स्पष्ट दिखाते हैं कि अगर साथ में बाजार हाट घूमा जा रहा है तो चूड़ी–बिंदी से लड़की को सुशोभित करे या चूड़ी–बिंदी खरीदकर उन्हें उपहार स्वरुप दें। यह अपने प्यार को इजहार करने का भी एक तरीका है, जैसे– "**बाजार में जब सुनील ढेर सारी चूड़ियाँ बिंदी ऐनक–कंघी खरीदने लगा तो बंशी हैरत भरी नजरों से देखता रहा था – आज साहब को हो क्या गया है। पागल कुत्ते ने तो नहीं काटा है। सुनील ने दो–चार हरी नीली सूती साड़ियाँ भी खरीदी। आज वह बेहद खुश नजर आ रहा था। जैसे जिंदगी का कोई राज मिल गया है। उधर बंशी सोचे जा रहा था –**

इंजीनियर बाबू के पागल होने के दिन आये हैं। हो न हो सावन के अंधे को हरा–हरा ही नजर आ रहा है।"[14] आज की तारीख में चाहे प्रेम विवाह हो, या व्यवस्थित परंपरागत विवाह, उस लड़की को कोई और न देखे या किसी और के लिए न देखा जाए इसलिए लड़की के ऊपर साड़ी ढककर सुरक्षित किया जाता है, जिसे सुतबंधनी कहा जाता है, तो जाहिर है तब सिर पर कंघी डालकर या मेले में हाथ पकड़कर सुरक्षित किया जाता रहा होगा। अर्थात तब कंघी डालकर और अब साड़ी ढककर सुतबंधनी किया जाता है। बदलते समय के अनुसार जैसे–जैसे लोग शिक्षित होते जा रहे हैं वैसे–वैसे शहरों, महानगरों से रिश्ता जोड़ रहे हैं। साथ ही विभिन्न आधुनिक तकनीकियों से लैस होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न समुदायों के बीच सगाई से लेकर शादी तक, गैर आदिवासियों और विदेशियों का प्रभाव दिखने लगा है।

प्यारा केरकेट्टा की कहानी से यह भी ज्ञात होता है कि युवक–युवतियाँ जब शादी के योग्य हो जाते हैं, तो गाना के माध्यम से भी इजहार करते हैं। इसके लिए जंगल, पहाड़ से बेहतर जगह कुछ हो नहीं सकता। इजहार के रूप में एक टोंगरी में गीत गाया जा रहा है, तो दूसरी टोंगरी से उसका जवाब भी मिल रहा है। उनके इन गीतों को **पांडू** कहा जाता है, अतः यह एक लोकगीत है जिसका राग बहुत मोहक होता है। गीत के बोल थे–

"रसिक छैला पहाड़ पर गा रहा है (सुनकर)

परित्यक्ता स्त्री रात के अँधेरे में ताक झांक कर रही है।"[15]

ऐसे गीत सुनकर श्रोताओं के कान में रस घोल जाता है। मनचली युवतियों का दिल मचल उठता है। इसी पल पहाड़ के दूसरे छोर से गीत गूँज उठा –

"कब तक युवक तुम युवा होगे।

तुम्हारी दाढ़ी मूंछे उगेंगी

मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करुँगी।"[16]

इन लोकगीतों के माध्यम से उपजा प्रेम को लेखक आगे दिखाते हैं –

"चड़री टोला के दंदु पौलुस ने पहाड़ पर चढ़कर पाडू गाया। पहाड़ की तराई में बेरथा ने उसे सुना। बेरथा ने बड़े मन से गीत गाकर उसे उत्तर दिया। फिर तो दोनों की मुलाकातें वन में ही होने लगीं। वे दोनों कब, कहाँ और कितनी देर तक बातें करते, किसी को पता नहीं। लेकिन बेरथा बड़े मनोयोग से बाल सँवारने, तेल लगाने और साफ कपड़े पहनने लगी।"[17]

वर्तमान आदिवासी समाज के परिवेश को देखा जाए तो प्रेम और विवाह के मामले में बाकि दूसरे समुदाय (तथाकथित मुख्यधारा) के लोगों से बहुत भिन्न नहीं है। हाँ प्रेम को लेकर आदिवासी समाज में ओनर किलिंग जैसी समस्या नहीं है जैसे दूसरे समाज में देखने सुनने को मिलता है। समाज में अपने गोत्र के बाहर और समुदाय के अन्दर ही विवाह को मान्यता दिया जाता है। आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में कई तरह के प्रेम प्रसंगों को दिखाया है जिसका नतीजा विवाह तक नहीं पहुँच पाता है। इसका कारण इन साहित्यकारों ने कभी रोजगार, कभी धर्म को लेकर तो कभी उस परिवार में डायन बताकर शादी रोक दी जाती है। ऐसे में वे अपने प्रेम को अंजाम नहीं दे पाते हैं। नर्स को लेकर आदिवासी समाज में ऐसा फैला दिया गया है कि वह अच्छी नहीं होती है। उसका काम बहुत गन्दा है। वह हर तरह के मर्दों से बातें करती है वगैरह वगैरह। लोगों को ये नहीं दिखता कि वह विभिन्न प्रकार के रोगों से घिरे लोगों की सेवा कर रही हैं। रोज केरकेट्टा की कहानी **से महुआ गिरे सागर राति** इसी पर आधारित है। कहानी का कुछ अंश देखिए –

"जोसफा कितनी पढ़ी लिखी है? उसकी ममेरी बहन ने पूछा।

तानिस, सेकेंड डिविजन से मैट्रिक पास।

बहन,क्या करती है?

तानिस, नर्स ट्रेनिंग ले रही है दिल्ली में।

बहन, नर्स ट्रेनिंग? छी–छी! ऐसी लड़की को तुमने पसंद किया है? दुनिया जल गई है तुम्हारे लिए? नहीं इस घर में नर्स नहीं आयगी। कितना गन्दा काम है नर्स का?

तानिस, दीदी हमदोनो एक दूसरे को पसंद करते हैं। वह भी मेरे आसरे में है।

बहन, नर्सें बहुत बुरी होती हैं, सब तरह के मर्दों से बात करती हैं।

तानिस, बीमारों की सेवा करती है। जोसफा बुरी नहीं है। मैं पिछले पांच वर्षों से उसे देख रहा हूँ। उसके घर के लोग भी मुझे देख चुके हैं।

बहन, तो तुम नर्स से शादी करोगे? करो शादी उसी से। मैं तुम्हारी शादी के नाम पर कच्चा पानी तक नहीं पीऊंगी। इतना कहकर बहन बाहर निकल गई।"[18]

आदिवासी समाज में जो लोग थोड़े बहुत पढ़ लिख गए हैं उनकी सच्चाई यही है। देखा जाए तो आदिवासी समाज के अधिकांश हिस्से के लोग पढ़ ही नहीं पाते या बहुत कम लोग ही पढ़ पाते हैं। इनमें से गिने–गिनाए लोग ही होंगे जिनकी आर्थिक स्थिति मजबूत है। इसलिए जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, उनके सामने हमेशा यह चिंता रहती है कि कोई रोजगार लेकर बैठ जाए जिससे परिवार की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाए। चूँकि नर्स और शिक्षिका बनने के लिए शैक्षणिक योग्यता बहुत अधिक नहीं है इसलिए ज्यादातर लोग इसी पेशे को अपनाते हैं। **उस दिन रास्ते में** शीर्षक कहानी रामदयाल मुंडा की प्रेम पर आधारित कहानी है। कहानी में मनु मास्टर और नंदी का प्रेम कभी विवाह में तब्दील नहीं हो पाया, कारण लड़के का गरीबीपन और इससे भी बड़ा कारण लड़के की मां को डायन कहना। जैसे – "**यह सब देखकर नंदी के मां बाप चिंता में पड़ गए। एक तो मनु मास्टर के परिवार के साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं पहुँचता था। दूसरा यह कि मनु मास्टर एक गरीब घर से आते थे। कैसे–कैसे मनु मास्टर और नंदी की बात नंदी के मामा तक पहुंची। दूसरे ही दिन नंदी का मामा बुरुहतु पहुंचा। नंदी के पिता को उसने सीधे ना कह दिया। वह उसे यह भी बताता गया कि मनु मास्टर की माँ को गाँव वालों ने डायन पकड़ा था और उस समय से उसके बिरादरी के लोग उस घर में खाते–पीते नहीं हैं।"**[19] इस कहानी में नंदी अपने परिवार वालों को समझाने की कोशिश करती है किन्तु उन्हें इमोशनल अत्याचार

किया जाता है। यथा – **"उस लड़के के साथ अगर तुमने शादी की तो समझो की हम मर गए हैं।"**[20] माँ–बाप की अकेली बेटी उनको जीवन भर कष्ट पहुँचाने का काम कैसे करती, जिसके कारण वह माँ–बाप के एहसानों तले दब जाती है। उसकी शादी इलाके के एक जमीन–जायदाद वाले परिवार में हो गया। लेकिन वह कभी खुश नहीं रही, क्योंकि समझौते के बूते बना घर, घर नहीं मकान होता है अर्थात उनकी शादी, शादी नहीं एक समझौता कहा जा सकता है। दूसरी तरफ मनु मास्टर कभी शादी ही नहीं की। जब शादी के सम्बन्ध में नंदी मनु मास्टर से कहती है कि तुम्हें आगे की जिंदगी के बारे में सोचना चाहिए तब मनु मास्टर का जवाब था – **"सोचा है, मैंने कई बार सोचा है, लेकिन तुम्हारे चले जाने के बाद मेरे हृदय का जो कोना खाली है वह तो कभी भरता ही नहीं है।"**[21]

सच्चा प्रेम का एक अनूठा उदाहरण हमें वाल्टर भेंगरा तरुण जी का उपन्यास लौटते हुए में देखने को मिलता है। लेखक ने प्रेम के माध्यम से सलोमी और प्रकाश के उस प्रेम को दिखाया है जो समाज के लिए उदाहरण बन सके। इनके बीच प्रेम किशोरावस्था में ही उपजा था और विभिन्न धार्मिक उत्सवों के माध्यम से नजदीकियाँ भी बढ़ती गई। हालाँकि कहानी पूरी तरह पलायन पर आधारित है। उपन्यास में लेखक ने दिखाया है कि एक आदिवासी लड़की किस परिस्थिति में दिल्ली का रुख लेती है। सलोमी चाहती थी कि अच्छे से पढ़ाई करे किन्तु आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होने के कारण वह पढ़ नहीं पाती है। सलोमी के भाई–बहन भी हैं जो बहुत पढ़ना चाहते हैं। वह बड़ी है इसलिए महसूस करती है कि वह अपनी जिम्मेदारी उठाकर अपने भाई–बहनों की पढ़ाई को गति प्रदान करे। इसी उधेड़बुन में पड़कर ही वह एक दिन दिल्ली जैसे महानगर की ओर अपना कदम बढ़ाती है। दिल्ली में उसे आया के रूप में काम मिल भी जाता है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु घरेलू काम करते हुए उनके साथ कोठियों में शारीरिक शोषण, बलात्कार जैसी घटनाएँ घटती है, यह घटना उसके साथ बार–बार दोहराई जाती है। जहाँ जाती है वहाँ उसके साथ बलात्कार होता है। वह आयी थी नेक इरादे लेकर किन्तु ऐसी घटनाएँ बार–बार दोहराए जाने के कारण तंग आ गई थी। ऐसे में वह हताश–निराश दिल्ली से वापस जाकर किसी चैरिटी में रहकर

अनाथ बच्चों की सेवा करने लगती है। उसके साथ ऐसी भयानक घटनाएँ घटी रहती है, जिसके कारण वह समाज का सामना ही नहीं करना चाहती है। इसीलिए वह दिन–दुनिया से बेखबर अनाथ बच्चों की सेवा के लिए ही अपने आपको उचित समझती है।

उपन्यास में लेखक ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह भी नेक और सच्चा है। उपन्यास का अंश–

"मैंने पिछली बार तुम्हारे सामने एक प्रस्ताव रखा था। उस पर तुमने कुछ सोचा?

प्रकाश आप अच्छी तरह से जानते हैं कि हम जैसी लड़कियाँ इस निर्मल हृदय में क्यों और कैसे पहुँचती हैं। इसके बावजूद आप .....प्रकाश अब मैं इस योग्य नहीं रही।

ऐसी बात नहीं है सालो ..इस दुनिया में कोई भी परिपूर्ण नहीं है। सभी में कमियाँ हैं और कमजोरियां भी। जिस कमी को तुम स्वयं में अहसास कर रही हो। बहुत कोई उसे स्वीकार करने से डरते हैं। उससे भागते हैं।... जब एक बार तुम्हें यह अहसास हो गया कि तुम गलत रास्ते से सही दिशा की और मुड़ गई हो तो सबकुछ ठीक हो जाता है।"[22]

चूँकि सलोमी अपनी हालातों के कारण इस प्रेम को विवाह में परिणत होने से नकारती रही लेकिन यह सब जानते हुए भी प्रकाश यह कहता है –

"तुम मेरे लिए जैसे पहले थी, अब भी वैसी ही हो।....मुझे कोई फर्क नहीं लगेगा।"[23] और इस प्रकार वह सलोमी के सामने जीवन भर साथ निभाने का प्रस्ताव रखता है। इस सन्दर्भ में डॉ• वीर भारत तलवार **स्त्री प्रेम और विवाह** शीर्षक व्याख्यान में सवाल करते हुए कहते हैं(जो नया ज्ञानोदय में लेख के रूप में छपा है) – "**प्रेम बांधने में नहीं मुक्त करने में है। वह कहाँ गयी, क्या किया यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जीवन की एक सच्चाई को महसूस करके उसको जी जाना। हममें से कितने लोगों में यह साहस है? दाम्पत्य जीवन के नाम पर, परिवार के नाम पर हम न जाने कितना झूठ जीते हैं। दाम्पत्य जीवन में जिन लोगों ने प्रेम पाया, वे सौभाग्यशाली हैं।**

और ऐसे लोग भी सौभाग्यशाली हैं, जिन्होंने प्रेम करके दाम्पत्य जीवन को बनाया। पर ऐसे सौभाग्यशालियों की संख्या दुनिया में बहुत कम है। अधिकांश लोग परिवार और दाम्पत्य के नाम पर दिन–रात झूठ जीते हैं। और उस झूठ को मानने का साहस और उससे निकलने का साहस कितने लोगों में है?"[24]

बेदिया जी ने अपनी कहानी में प्रेम की एक ऐसे पहलु को दिखाया है जहाँ एक ही जाति बिरादरी के होने पर, धर्म उसके प्रेम में रोड़ा बनता है। अक्सर यह देखा जाता है कि धर्म या बिरादरी के नाम पर रोड़े बनने वाले और कोई नहीं बल्कि परिवार, समाज और रिश्तेदारों का ही महत्वपूर्ण हाथ होता है। उनका ज्ञान प्रेमी–प्रेमिकाओं के बारे में जितना होता है उतना तो खुद प्रेम करने वाले जोड़ों के पास भी नहीं होगा । यह सिर्फ कहानी नहीं है बल्कि आदिवासी समाज में आज भी यह एक ज्वलंत समस्या है। विवाह को लेकर आदिवासी समाज एकमत नहीं हैं। इनके बीच भी कई समुदाय हैं तथा धर्म के अन्दर भी कई धर्म हैं जो विवाह को लेकर सहमत नहीं होते हैं। इतना ही नहीं एक दूसरे को बरगलाने में अपनी पूरी ताकत झोंक देते हैं। इस घटना पर आधारित रूपलाल बेदिया लिखते हैं – "**बाबा हमको ई बड़का–बड़का बात कुछो नहीं बुझाता है खुलकर बताइए न। हमरा मन घबरा रहा है। शास्त्री जी अन्दर से प्रसन्न हुए पर अपनी प्रसन्नता चेहरे पर आने नहीं दी। वैसे ही गंभीर वाणी में बोले, "तो सुनो, चेतन और पौलुस सुरीन की बेटी समीरन के बीच कुछ चल रहा है । तुम तो जानते हो कि वह क्रिस्तान है। परजाति और परधर्म में ऐसे सम्बन्ध गंभीर समस्याओं को जन्म देता है, आंधी तूफान लाता है जो सबकुछ उड़ाकर ले जाता है।"**[25]

ऐसे में माहौल का बिगड़ना अनिवार्य है। इन्सान का फितरत ही है, चाहे बुराई हो या अच्छाई, जिसका जड़ मजबूत न हो, जिसने अपना जड़ जमाना शुरू ही किया हो, उसके बारे में जो जैसा सुनेगा लाजिमी है उसके प्रति धारणा वैसी ही बनेगी। किन्तु प्रेम अगर सच्चा है तो कोई भी शक्ति उन्हें अलग नहीं कर सकती। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से कटकर जीना मनुष्य के लिए असंभव है। बेदिया जी की कहानी के माध्यम से ही देखा जाए तो शादी हो जाने के बावजूद उन्हें किस तरह से धर्म के ठेकेदारों द्वारा विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता

है। एक तो शादी के बाद लड़के को घर से निकाल दिया जाता है क्योंकि चेतन सरना मतावलंबी था लेकिन उनका पूरा परिवार पूरी तरह से हिन्दुमय हो गया था। ऐसे में पिता धर्म के ठेकेदारों के भय से ही उन्हें नहीं अपनाता है। जब वह लड़की के घर रहने लगता है चूँकि लड़की ईसाई धर्मावलम्बी है इसलिए उसके सामने अब धर्मांतरण जैसी समस्याएँ आती है यथा– "**एक दिन शहर के चर्च के पादरी अपने कुछ अनुयायियों के साथ पधारे उन्होंने चेतन को समझाया कि इस घर में रहना है, तो तुम्हें ईसाईयत को अपनाना होगा। ऐसा करने से तुम्हें यहाँ की आजादी ही नहीं होगी, हम तुम दोनों के लिए नया आशियाना भी बनवा देंगे और हमारे संस्था के सारे लाभ प्राप्त कर सकोगे। और अगर ऐसा नहीं करते हो तो तुम्हें यह घर ही नहीं समीरन को भी छोड़ना होगा।**"[26] ऐसे में उसके सामने शादी को बचाने की भी समस्या आती है। धर्म, बिरादरी और समाज उनका पीछा नहीं छोड़ती। जिसके कारण वह धर्मांतरण कर भी लेता है। सवाल यह उठता है कि क्या बिना धर्म के वैवाहिक जीवन नहीं जीया जा सकता? आखिर यह धर्म है क्या, जो आदमी को सहज जीवन जीने नहीं देता।

रोज केरकेट्टा की कहानी है रमोणी। रामोणी एक बंगाली बाला है जिसकी शादी एक आदिवासी युवक के साथ होता है। आदिवासी समाज में प्रचलित रूढ़ी नीति–रीति को देखा जाए तो इन दम्पति का, इनके परिवार तथा इनके कुल का विनाश तो निश्चित है ? क्योंकि उनके बीच यह धारणा बनी हुई है कि दूसरे बिरादरी के लोगों से शादी करने से कुल का नाश होगा। पर ऐसा कुछ नहीं है। शादी करके शहर में रहने वाली बंगालिन बहू गाँव की दशा देखकर गाँव में ही रहना पसंद करती है और वहाँ के स्त्रियों में चेतना जगाती है। बंगालिन बहू के द्वारा कुल और समाज का पतन नहीं बल्कि उत्थान हुआ। "**रामोणी को गाँव वालों ने अपना लिया था – आज वह खाती भी है खिलाती भी। पुलकी झरिया का पानी यों ही नहीं बह रहा। गर्मी में भी खेतों को सींचते हुए बहता रहता है। पहले ट्रक वाला ठगता था। अब पुलकी झरिया ठगी को दूर बहा ले जा रही है। गाँव में चेतना जगा रही है। रामोणी व्यस्त हो गई है।**"[27]

प्रेम और विवाह के सन्दर्भ में प्रेम का जो अहसास है वह स्वतंत्र होता है। इसके पंख को समेटने की क्षमता किसी में नहीं होती। किन्तु पारिवारिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह सहज मार्ग नहीं है इस भावना को अगर किसी से या किसी के द्वारा बांधने की कोशिश की जा रही है, तो यह उसकी व्यक्तिगत संतुष्टि के लिए नहीं बल्कि उसके पीछे बहुत बड़ा कारण हैं, जो उन्हें यह करने में मजबूर करती है, वह है उनका आत्मसम्मान और इज्जत(व्यतिगत, पारिवारिक, सामाजिक)। इसके कारण व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष, वह सिमटकर रह जाता है। अपनी भावना को इजहार नहीं करना या किसी की भावनाओं को दबाने से इन्सान के दिल में जो भावनाएं हैं वह दबता नहीं, बल्कि भीतर ही भीतर पनपता रहता है और मौका पाते ही प्रस्फूटित हो जाता है। अगर ऐसा नहीं होता है और इन्सान समझौता का जीवन जीने लगता तो उसका अंजाम और ही भयावह होता है।

प्यार को कोई कैसे रोक सकता है? किन्तु अक्सर देखा जाता है कि स्ट्रेटस और बिरादरी हमेशा रोकती है और रोकने की कोशिश करती है। रोज केरकेट्टा अपनी कहानी **मैग्नोलिया पॉइंट** में लिखती हैं – "**मैंने तुमसे कहा अपने स्ट्रेटस का ध्यान रखो, यह लड़का नेटिव है। निम्नवर्गीय नौकर, अनपढ़ और जाहिल। तुम उससे हंसना बोलना बंद करो। वह गुलाम है और तुम गवर्नर की बेटी, इसे दिमाग में रखो।**"[28] सवाल यह उठता है कि क्या निम्नवर्गीय , अनपढ़ या नेटिव के पास कोई भावना नहीं होती? क्या उसे प्यार करने का कोई अधिकार नहीं है? क्या प्यार स्ट्रेटस देखकर किया जाता है? प्रेम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मांग करता है फिर उसके साथ ये दुर्व्यवहार क्यों? मंगल सिंह मुंडा की कहानी के नारी पात्रों में, प्रेम के मानवीय तथा स्वाभाविक पक्ष के साथ साथ एक आदर्श नारी चरित्र का सम्मान देने को वचनबद्ध दिखलाई तो पड़ती है, किन्तु अपने अहं और बिरादरी के दंश से बच नहीं सकती हैं यथा – "**एक नारी के कोख में पलता प्रेम भला एक पुरुष क्या जाने? बूंदी के हृदय स्थल में उगा प्रेम प्रसून मनमोहक तो जरूर है पर हमें उसकी माली की हालत भी तो देखना है। क्या वह उसे आजीवन अपने प्रेम जल से सींचता रह सकेगा?**"[29]

प्यार को जब बांधने की कोशिश की जाती है तो उसके पीछे क्या हस्र हो सकता है? उसका कुछ एक दृश्य रचनाकारों के माध्यम से ही स्पष्ट किया जा रहा है, जो हमें ऐसी घटनाओं से रूबरू कराती है। मंगल सिंह मुंडा जी का उपन्यास **छैला संदू** मिथकीय प्रेम पर आधारित है। इस कहानी के दृश्य से प्रचलित कहावत **अब पछतात होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत** स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ सारी घटनाएँ हो जाने के बाद एक माँ अपने पति को कोसते हुए कहती है – "**यह सब तेरे बदौलत हुआ है। तुमने एक बाप की हैसियत से मेरी कोख में बीज ही तो डाला है न। उसके अंकुर के साज स्वभाव पर बलात दखल देकर तुमने अच्छा नहीं किया है प्रिये, अच्छा नहीं किया। तुमने उसकी व्यक्तिगत प्रेम पूँजी पर हाथ मारा है प्रिये .....।**"[30] वहीं रोज केरकेट्टा लिखती हैं– **मैग्नोलिया का पार्थिव शरीर पहाड़ों के नीचे पड़ा था। उसका प्राण पखेरू पंचु के देश को उड़ चुका था।**[31] मैग्नोलिया पॉइंट शीर्षक कहानी में मैग्नोलिया के लिए जीते जी अपना प्यार पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन था क्योंकि वो एक गवर्नर की बेटी है जो लन्दन में रहती है और आदिवासी युवक पंचु से प्रेम करने लगी है, जो माली का काम करता है। बेटी की हरकतों को देखकर महामहिम ने लन्दन वापसी का एलान समय से पूर्व ही कर दिया था। ऐसे में वह क्या करती वह अनुभव कर चुकी थी कि उसका देश तो यहीं पर है। उसी प्रकार छैला संदू की बूंदी राजघरानों से आती है जो आदिवासी युवक संदू से प्रेम करती है, जो जीते जी मिलना असंभव जान पड़ता है। ऐसे में बूंदी अपने प्यार को चिरकाल तक पाने के लिए खुद को खोना पसंद करती है। इस मिथकीय प्रेम के माध्यम से लेखक ने निःस्वार्थ प्रेम, आदर्श प्रेम और सबसे बड़ी बात सच्चे प्रेम की उस तड़प को दिखाया है जो मरकर भी उस प्रेम को पाना चाहता है – "**पिछले जन्म में मैंने एक अतिसुन्दर ग्रामीण बालक संदू से प्रेम का नाता जोड़ा था। हमारा प्रेम पुष्प सुबह शाम अपने प्रेमासराओं की ठंठी बूंदों से तरोताजा हो उठा था। हमारा अटल प्यार उस पौधे की धरती थी। हमारा आत्म विश्वास उसकी पत्तियाँ थी। आशा और उमंग को समेटे हुए कलियाँ निकल आई थी। पर हाय! विधि के विधान में यह नहीं लिखा था कि ये कलियाँ फुटकर मानव जगत में प्रेम पराग की मानवीय खुशबु फैलाएँ। पिता के क्रूर हाथों ने उन्हें खिलने से पहले ही मसल दिया। श्रीविहीन पौधा मिट्टी में मिल चुका है। पर प्राणी की जीवात्मा नहीं मरती। मैं**

वही जीवात्मा हूँ जो अब भी झड़े हुए उस प्रेम पुष्प की खोज में जल, थल और नभ तीनों लोक में भटक रही हूँ।"[32]

कहा जाता है कि जोड़ी ऊपर से बनकर आता है। ऐसी जोड़ियों पर जब मानवीय लगाम लगता है, तो वह प्रकृति के विरुद्ध है। जब ऊपर वाले के निर्णय से इंसान नाखुश है, तो उसका धरती पर ही नरक बनना निश्चित है। रोज केरकेट्टा की कहानी **से महुआ गिरे सगर राति** में तानिस इसी का शिकार होता है। वह अपने व्यक्तिगत निर्णय को छोड़कर परिवार के एहसानों तले दब जाता है। परिणामतः उसके साथ हुआ क्या – "**तानिस अपराध बोध, अतृप्त आकांक्षाओं और घोर निराशा में डूब गया। उसने इन सबसे मुक्ति के लिए शराब में अपने को डुबा दिया। उसकी सारी योग्यताएं नष्ट हो गईं और एक दिन वह गुमनाम मर गया।**[33] दूसरी ओर जोसफा ने कभी शादी ही नहीं की – **जोसफा ने अपना प्रशिक्षण पूरा किया। दिल्ली में एक बड़े अस्पताल में नौकरी लग गई। वह अपने गाँव रेंगारी नहीं लौटी। हरियाणा में जमीन लेकर बस गई। अपनी बहनों किपू, कारा आदि को बुलाकर अपने पैरों पर खड़ा किया। कोई नर्स बनी, कोई शिक्षिका, कोई क्लर्क। उसने विवाह नहीं किया। उसकी बहनों नें अपनी इच्छा अनुसार अपना घर बसाया। तानिस और अपने संबंधों के बारे में उसने एक शब्द नहीं कहा। उसके मौन निश्चय और काम से उसके निर्णय का पता चल गया।"[34]** जोसफा का प्रेम सच्चा था। उसने तानिस के साथ–साथ जीने का सपना संजोया था क्योंकि उनकी जोड़ी खुद प्रकृति के माध्यम से ही बनी थी – "**बसें बरसात भर के लिए बंद हो जाती थीं। इस क्षेत्र के सारे लड़के–लडकियाँ एक साथ मिलकर पैदल रास्ता चलते थे। इसलिए आपस में उनकी मित्रता भी हो जाती थी। जब परिचित हो जाते तो एक दूसरे के घर भी आना जाना करते थे। पिछले वर्ष जब गर्मियों के बाद रांची लौट रही थी, तब कोइल नदी में बाढ़ आ गई थी। सड़क कच्ची थी। नदी पर पूल नहीं था। बस कोनबीर में रुक गई। लड़कियों को भी रुक जाना पड़ा। वे सब फादर के बंगला में रुक गईं। खाना भी मिला और सोने के लिए जगह भी मिली। बाकी यात्री किसी किसी के घर चले गए वहीं ताने यानी तानिस लड़कियों को मिला।"[35]**

समाज में ऐसे जोड़े भी हैं जो विवाह से पूर्व तमाम बंदिशों को तोड़ते हुए एक साथ रहने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनके रिश्ते को शादी के रूप में अंजाम देना हो तो थोड़ी बहुत मशक्कत के बाद शादी हो जाती है। और इनके बीच स्त्री–पुरुष सम्बन्ध पहले से है, और अगर विवाह पूर्व स्त्री माँ बनने वाली है तो ऐसी स्थिति में पंचायत का सहारा लिया जाता है। उनके परिवार वालों को पंचायत के हर आदेश को पूरा करना होता है। वर–वधू दोनों पक्षों से राय ली जाती है। चूँकि जो होना था वो हो चुका होता है, इसलिए युवक–युवती की ही खुशी देखी जाती है, और पारिवारिक स्थिति के अनुसार दंड स्वरुप कुछ जुर्माना भरवाकर मामला रफा दफा कर दिया जाता है। उन्हें साथ रहने की मंजूरी मिल जाती है साथ ही सामाजिक तौर तरीके से उनकी शादी भी करा दी जाती है। इस सन्दर्भ में **पलास के फूल** शीर्षक उपन्यास में ऐसी ही घटना का जिक्र करते हुए पीटर पॉल एक्का लिखते हैं – "**समाज का नियम सबके लिए होता है। अतः चैतु–मंगली को यह नियम निभाना पड़ेगा। सरपंच उठकर एलान करते हैं – ऐसे मामलों में दोनों पक्षों को सौ–सौ रूपये जुर्माना भरना होगा, पंचायत के लिए मदीरा का इंतजाम करना होगा और सप्ताह भर के अन्दर पुजारी से शादी की रस्म पूरी करनी होगी।**"[36] ये अच्छा भी है इन नियम कानूनों के कारण कम से कम समाज में ओनर किलिंग जैसे कुविचार तो नहीं पनपते।

प्रेम विवाह या जीवन संगिनी चुनने के मामले में झारखण्ड के मजदूरों, दलितों, आदिवासियों एवं महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्षरत चर्चित लेखिका रमणिका गुप्ता लिखती हैं – "**एक बात तो माननी होगी कि भारतीय संस्कृति के बिल्कुल विपरीत आदिवासी स्त्री को अपना वर खुद चुनने की इजाजत है। इसके लिए वह न तो दण्डित होती है, और न ही दोषी करार दी जाती है। उनके यहाँ तो घोटुल प्रथा चालू थी जहाँ युवा लड़के–लड़कियों को एक साथ रखकर सब प्रकार का ज्ञान दिया जाता था। यह उनका प्रशिक्षण स्थल था। इसलिए भारत के अन्य स्त्रियों के विपरीत आदिवासी लडकियाँ लड़कों को देखकर न तो पिघलती हैं और न ही बर्फ की तरह पानी–पानी हो जाती हैं, बल्कि वे उससे बतियाती हैं, परखती हैं और अगर जीवन साथ निभाने का स्कोप देखती हैं तो दोनों रजामंदी से विवाह भी कर लेते हैं। मन न**

मिलने पर पति को छोड़ने का उन्हें अधिकार प्राप्त है।"[37] इस सम्बन्ध में वीर भारत तलवार झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में लिखते हैं – "**समाज में स्त्रियों की स्थिति हिन्दू समाज की तुलना में बेहतर है। अविवाहित लड़कियों के घुमने फिरने, अपनी सहेलियों के साथ रात को मेले उत्सवों और नृत्य में जाने, बाहर नौकरी करने और अपनी पसंद से विवाह करने की स्वतंत्रता है। विवाहित स्त्रियों को यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है, लेकिन कुछ परिस्थितियों में उन्हें पति को तलाक देने और फिर से विवाह करने का अधिकार है।"**[38]

लोककथा और समसामयिक परिवेश के हवाले से देखा जाए तो तब और आज का आदिवासी समाज में जमीन आसमान का फर्क है। विवाह से पूर्व सेक्स की अवधारणा के रूप में वीर भारत तलवार लिखते हैं – "**विवाह के बाद वे सेक्स संबंधों में एकनिष्ठता (एक्सक्लुसिवनेस) का पालन करते हैं, पर विवाह पूर्व यौन संबंधों पर रोक नहीं है। सेक्स को वहां हौवा नहीं बनाया गया है। नैतिकता मर्यादा और पवित्रता इत्यादि के नाम पर मनुष्य की यौन भावनाओं को तरह–तरह के बंधनों में बांधकर, उसका दमन कर, उन्हें मानसिक रोगी नहीं बनाया गया है।"**[39] लोककथा और आदिवासी संस्कृति को देखा जाए तो यह बिलकुल सही है। तब धुमकुड़िया, घोटुल, अखड़ा जैसी संस्थाएं थी। विवाह के बाद वे सेक्स संबंधों में एकनिष्ठता का पालन करते थे जाहिर सी बात है क्योंकि विवाहितों का उन संस्थाओं में प्रवेश वर्जित था। आज के सन्दर्भ में देखा जाए तो उपर्युक्त कथन थोड़ा अटपटा सा लगता है क्योंकि आज न घोटुल बचा है और न ही धुमकुड़िया। सेक्स के सन्दर्भ में जहाँ तक अनुभव है अपने समाज और परिवेश से, तो यह उतना ही बंधा हुआ और गोपनीय है जितना गैर आदिवासी समाज समझते हैं। चूँकि यह स्त्री और पुरुष की जरुरत है जिसे भगवान ने संसार को फलने–फूलने के लिए खुद बनाया है। यह सच है कि जिस तरह से विवाह पूर्व सेक्स या विजातीय विवाह को गैर आदिवासी समाज में अंजाम दिया जाता है वह आदिवासी समाज में नहीं है। इस प्रकार से देखा जाए तो इस मामले में आदिवासी समाज बंधा हुआ नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह पूर्व सेक्स और विवाह पूर्व माँ बनने से परिवार वालों को ठेस जरुर पहुँचती है। परिवार की नैतिकता मर्यादा

और पवित्रता पर आंच आती है। उनके इज्जत और आत्मसम्मान पर करारा प्रहार पड़ता है। लेकिन वे आग बबूला नहीं होते, उन्हें सलीके से निबटाया जाता है जैसा मैंने ऊपर ही स्पष्ट कर दिया है।

आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रेम, विवाह, रिश्ते और स्त्री पुरुष सम्बन्ध के उन तमाम पहलुओं को दिखाया है जो मूलतः आदिवासी समाज की वास्तविकता है तथा उन कड़वी सच्चाई को भी दिखाया है जो विशेषकर हमारी आदिवासी बहनें हर जगह हर रोज सामना कर रही हैं। एक ओर स्त्री–पुरुष के उस रिश्ते को दिखाया है जो सच्चाई और विश्वास से परिपूर्ण है साथ ही विवाहेतर सम्बन्ध रखने वाले चरित्र को भी दर्शाया है। वहीं दूसरी ओर शोषण और धोखे का सम्बन्ध को दिखाया है जो बहुत ही घिनौना और शर्मनाक है। जो स्त्री–पुरुष के प्रेम का सम्बन्ध नहीं, बल्कि धोखे में रखकर देह की भूख मिटाने का एक उपकरण मात्र होता है। सच्चा और आदर्श प्रेम के रूप में हम देख सकते हैं रोज केरकेट्टा की कहानी **से महुआ गिरे सगर राति** की तानिस और जोसफा, **आँचल का टुकड़ा** की सामेल और जसो, **मैग्नोलिया पॉइंट** की मैग्नोलिया और पंचु, मंगल सिंह मुंडा कृत **छैला संदू** की संदू और बुंदी, रामदयाल मुंडा जी की कहानी **उस दिन रास्ते में** की मनु मास्टर और नंदी, वाल्टर भेंगरा तरुण कृत **लौटते हुए** की सलोमी और प्रकाश, रूपलाल बेदिया जी की कहानी **धर्म के चौराहे पर इन्सान** की चेतन और समीरन, पीटर पॉल एक्का की रचनाओं में **पलास के फूल** की आनंद बाबू और पार्वती, **सोनपहाड़ी** की सुनील और बिनको उर्फ बिन्नो आदि।

धोखा और शोषण से भरे रिश्ते को कुछ एक रचनाओं से समझ सकते हैं। पीटर पॉल एक्का की रचनाओं में हम देखते हैं कि इलाके में जो कार्य चल रहा हो चाहे कोलियरी खदान खुल रही हो या डैम या सड़के बनवाने का काम चल रहा हो। इन सब में ठेकेदार से लेकर फोरेस्ट गार्ड तक हर पद पर गैर आदिवासी दिक्कू लोग पदासीन हैं। इनका जुल्म ऐसा चलता था कि इलाके की कोई भी बालाएँ उससे नहीं बच सकती थीं। उन्हें हर रोज अपने पसंद की लड़की चाहिए। अगर वे ऐसा नहीं कर रही हैं तो उसे काम पर से निकालने की धमकी दी जाती थी। विवश होकर

उन्हें ये सब करना पड़ता था। पापी पेट को तो पालना ही था। पीटर पॉल एक्का कृत उपन्यास **सोनपहाड़ी** से एक उदाहरण देना चाहूँगी जो पूरे प्रकरण को समझने के लिए काफी होगा। यथा– "**अब ई ढोंग दिखावा बहुत हुआ बाबू। हम कुछो पर विश्वास नहीं करता है –पाप–पुण्य। सब सहरी बाबू–साहेब एक ही जिनावर होते हैं भूख मिटाना है तो सीधे क्यों नई कहते हो। अभी तो एक से निपटाया है। हम तो गरीब हैं न, जब चाहो कपड़े उतार लो!– यह कहते हुए पहाड़ी बाला ने सचमुच अपनी फटी–फटी साड़ी ऊपर उठा ली थी।**"[40]

धोखे के रिश्ते और प्रेम के रूप में हम मंगल सिंह मुंडा की कहानी **धोखा** शीर्षक कहानी को देख सकते हैं। कहानी में किस प्रकार भोली–भाली आदिवासी लड़कियों को धोखे में रखकर उसका इस्तेमाल करते हैं। यथा – "**चार महीना पहले उसने मुझसे कहा था कि मैं उसकी हो जाऊं। रात–दिन हर समय उसकी सेवा सुश्रुषा करूँ। बरसात आने तक काम करने के बाद हम घर चले जाएंगे। वहां जगह जमीन खेत बाड़ी है। इस तरह मुझे रेजा का काम नहीं करना पड़ेगा। सोने की चूड़ियाँ तथा तथा बंगाली सांखा मेरे लिए बनवायेगा .....आदि आदि। तब इसके बहकावे में आकर अपना सबकुछ उसे देती रही। आज सुन रही हूँ कि वह तो भाग गया। अब मेरे पास घर जाने का पैसा भी नहीं**।"[41] इसी विषय पर आधारित एक्टिविस्ट, संस्कृति कर्मी, कवि–लेखक एवं आदिवासी विषय पर गहरा अध्ययन करने वाले अश्विनी कुमार पंकज की एक बहुत अच्छी और सीख देने वाली कहानी है – **नदी, जो बरसाती थी**। इस कहानी में आदिवासी लड़की और एक मुसलमान लड़का के बीच प्रेम होता है। इनके बीच के रिश्ते को प्रेम क्या कहें? बल्कि कहा जा सकता है एक ऐसा आकर्षण जो शरीर की भूख मिटाने तक ही सीमित है। यह इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है– "**अभी कुछ दिन हमलोग न ही मिले तो अच्छा है सुकांति के स्वर में अनिच्छा साफ झलक रही थी। मैं बार–बार के अबार्सन से तंग आ गई हूँ। इस समय मुझे देह से ज्यादा मानसिक पीड़ा कितनी होती है, तुम इसे समझने की कोशिश क्यों नहीं करते।**"[42] शादी के नाम पर यह सिलसिला चलता रहता है। लड़की हमेशा जवाब मांगती रहती है कि शादी कब करोगे? किन्तु आश्वासन देकर लड़का टालता रहता। उन्हें तो उनकी जरुरत पूरी हो

रही है शादी से उसे क्या मतलब था। चूँकि लड़की तो इसी आसरे में थी कि दोनों की शादी हो जाए। इसीलिए उसने अपने जवाब के बिना लड़के की जरुरत पूरी करने को तैयार नहीं थी। लड़की अपने फैसले में अडिग थी। ऐसे में लड़के का असली रूप उभरकर सामने आता है। उसका एक ही मतलब था शरीर की भूख मिटाना। अपनी इच्छा पूरी न होने पर वह तमतमाता हुआ कहता है–

"जवाब चाहिए।.....तो ....तुम्हें जवाब चाहिए। अफरोज की भूख हिंसक हो रही थी।

हाँ..... चाहिए.....अभी, इसी वक्त चाहिए। सुकांति एकदम शांत थी। उबलता हुआ अफरोज सुकांति के इस शांत और दृढ़ स्वर से अपना आपा खो बैठा। एक जोरदार का चांटा जड़ते हुए वह जोर से चीखा – क्या समझती हो अपने आपको। औरत हो। औकात में रहो। अरे हम तो अपनी रखैलों को भी सवाल पूछने की इजाजत नहीं देते।....तुम क्या हो? शादी ....शादी! थोड़ा और वक्त नहीं दे सकती। बस एक ही रट लगाये हुए है।... जवाब चाहिए!"[43]

विवाहेतर संबंधों के मामले में हम रोज केरकेट्टा की कहानी **दुनिया रंग रंगीली बाबा** को देख सकते हैं। इसमें एक ऐसी लड़की की कहानी है जो बहुत खूबसूरत है। उसकी विभिन्न इच्छाएँ हैं। उसके घर वाले उसकी शादी परंपरागत व्यवस्थित तरीके से कराते हैं। परिवार सुखी है। जिंदगी मजे से कट रही है और लड़की की सारी मनोकामनाएँ भी पूरी हो रही है। किन्तु कहानी में एक ऐसा मोड़ आता है जहाँ सबकुछ खत्म हो जाता है। तेज आंधी से पेड़ उखड़े, डालियाँ टूटी जिसके कारण खेत के पास बने घर के अन्दर ही दबकर उसके पति की मौत हो गई थी। पत्नी इस घटना से चीख–चीख कर रोते हुए कहने लगी – **"ओहरे संगी क्यों मैं तुम्हारे साथ खेत अगोरने नहीं आयी। साथ–साथ मैं भी चली जाती। तुम मुझे क्यों अकेले छोड़ गए रे संगी ....आ .....आ ....आ।"**[44] किन्तु वहाँ सिर्फ उसके पति का मृत शरीर ही नहीं बल्कि किसी औरत का भी शव था। जिसके कारण उसका पति खेत अगोरने के बहाने हर रोज वहाँ जाता था। जब उसे पता चला कि उसे धोखे में रखकर उसका पति विवाहेतर सम्बन्ध रखा है तो एकाएक वह उस गमगीन माहौल से निकलकर वहां से

ऐसी भागी मानो उस आदमी से उसका कोई रिश्ता ही न रहा हो। बल्कि वह गाली देकर निकल गई – "**पोगोइरढाहा कहीं का। इसीलिए तुम यहाँ आते थे? यही कमाते थे? आज भूति मिल गया। फिर वह चुपचाप शवों को देखने लगी। आँखों का रंग बदलने लगा। कुछ पल पहले तक जो आँखें दयनीय दिखाई दे रही थीं, उनसे अब चिंगारी छूटने लगी। एकाएक आशा ने पैर पटकी और कुछ भी करो कहते हुए घर चल दी।**"[45] चूँकि विश्वास पर विवाह टिका रहता है और विश्वास और प्रेम पर परिवार। स्त्री, प्रेम और विवाह शीर्षक वक्तव्य में डॉ. वीर भारत तलवार कहते हैं – "**विवाह अगर एक व्यवस्था है और भावुकता का प्रश्न नहीं है तो यह जाँचना चाहिए कि उस व्यवस्था में स्त्री की जगह क्या है और पुरुष की जगह क्या है? उसमें दोनों के रोल क्या हैं, अपेक्षाएं क्या है? और वह न्यायपूर्ण है की नहीं? अगर वह न्यायपूर्ण नहीं है तो क्या यह आवश्यक नहीं कि विवाह संस्था को हम न्यायपूर्ण बनाएं? उसे न्याय की बुनियाद पर खड़ी करें, उसे सुधारें, बदलें? और अगर यह संभव नहीं है तो उसका विकल्प ढूंढ़ना चाहिए मनुष्य समाज को।**"[46]

इस प्रकार आदिवासी साहित्यकारों ने प्रेम विवाह और स्त्री पुरुष सम्बन्ध के बारे में अपनी लेखनी के माध्यम से स्पष्ट करने की कोशिश की है। चाहे वह आदर्श और निःस्वार्थ प्रेम से परिपूर्ण हो या फिर दाम्पत्य जीवन या समाज का खोखलापन। लेखकों ने अपनी रचनाओं में रिश्ते और आकर्षण के विभिन्न रूपों की ओर इशारा भर किया है। उन रूपों को पहचानने की हमें सख्त जरुरत है। साथ ही इन साहित्यकारों ने स्त्री के साथ होने वाले अन्याय के कई रूपों को उजागर करते हुए, उसके क्रान्तिकारी रूप और प्रतिरोध के संघर्ष को भी दिखाया है।

सन्दर्भ

[1]युद्धरत आम आदमी,(पत्रिका),रोज केरकेट्टा (अध्यक्षीय वक्तव्य), अंक–80, दिसंबर 2005, पृष्ठ सं. – 89

[2]वही पृष्ठ सं. – 89

[3]श्रुत कथा

[4]श्रुत कथा

[5]श्रुत कथा

[6]युद्धरत आम आदमी,(पत्रिका),रोज केरकेट्टा (अध्यक्षीय वक्तव्य), अंक–80, दिसंबर 2005, पृष्ठ सं. – 89

[7]युद्धरत आम आदमी,(पत्रिका),बिटिया मुर्मू (आलेख), अंक–80, दिसंबर 2005, पृष्ठ सं. – 91

[8]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –120

[9]शून्य में अटके परिंदे, रूपलाल बेदिया, पृष्ठ संख्या–121

[10]छैला संदु, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या–27

[11]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –57

[12]लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, सं वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या –41

[13]वही , पृष्ठ संख्या –44

[14]सोनपहाड़ी, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या– 75

[15]लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, सं वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या–40

[16]वही, पृष्ठ संख्या –40

[17]वही, पृष्ठ संख्या–43

[18]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–85

[19]ए'अ नव कानिको(सात नई कहानियाँ), रामदयाल मुंडा, पृष्ठ संख्या –31

[20]वही, पृष्ठ संख्या– 33

[21]वही, पृष्ठ संख्या– 39

[22]लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृष्ठ संख्या–320

[23]वही, पृष्ठ संख्या–321

[24]नया ज्ञानोदय, (पत्रिका), वीर भारत तलवार (वक्तव्य), 2008 पृष्ठ संख्या –14

[25]शून्य में अटके परिंदे, रूपलाल बेदिया, पृष्ठ संख्या–123

[26]शून्य में अटके परिंदे, रूपलाल बेदिया, पृष्ठ संख्या–125

[27]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –131

[28]लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, सं वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या–120

[29]छैला संदु, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या–29

[30]छैला संदु, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या–144

[31]लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, सं वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या–123

[32]छैला संदु, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या–149–150

[33]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–87

[34]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–87

[35]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–82–83

[36]पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या –54

[37]युद्धरत आम आदमी,(पत्रिका), रमणिका गुप्ता(आलेख), अंक–80, दिसंबर 2005, पृष्ठ सं. –94

[38]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –57

[39]झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, वीर भारत तलवार, पृष्ठ संख्या –113

[40]सोनपहाड़ी, पीटर पॉल एक्का, पृष्ठ संख्या–135

[41]महुआ का फूल, मंगल सिंह मुंडा, पृष्ठ संख्या –25

[42]पेनाल्टी कॉर्नर, अश्विनी कुमार पंकज, पृष्ठ संख्या –59

[43]पेनाल्टी कॉर्नर, अश्विनी कुमार पंकज, पृष्ठ संख्या –71

[44]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–133

[45]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या–135

[46]नया ज्ञानोदय, (पत्रिका), वीर भारत तलवार (वक्तव्य), 2008 पृष्ठ संख्या –16

अध्याय सात

झारखण्ड के आदिवासियों से सम्बंधित आदिवासी और गैर आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा–साहित्य की एक संक्षिप्त तुलना :–

आदिवासी साहित्य :–

आदिवासी साहित्य को लेकर सबसे पहले सवाल यह उठता है कि आदिवासी साहित्य क्या है? आदिवासी साहित्य हम किसे मानते हैं? क्या आदिवासी विषय पर या आदिवासियों पर लिखे गए साहित्य को आदिवासी साहित्य माना जा सकता है?

आदिवासी साहित्य के बारे में रोज केरकेट्टा लिखती हैं– "**आदिवासियों के पास लिखित लिपि नहीं थी। इसलिए उनकी जो साहित्यिक परंपरा है वो अलिखित था। देश के आदिवासियों और मूलनिवासियों का जो साहित्य रहा है, वह अलिखित ही मौखिक परंपरा के तहत आता रहा है।**"[1] अगर लिखित साहित्य की बात की जाए तो – "**यह तीस से पचास का दशक था जिसमें खड़िया में प्यारा केरकेट्टा, संताली में रघुनाथ मुर्मू, हो में लको बोदरा, मुंडारी में बलदेव मुंडा और कुडुख में आयता उरांव जैसे पहली पीढ़ी के आदिवासी साहित्यकार व बुद्धिजीवी अगवाई कर रहे थे।**"[2] हिंदी में आदिवासी साहित्यकारों की रचनाएँ 80 के दशक में प्रकाश में आया। ए'अ नवकानिको (1980) (मुंडारी और हिंदी दोनों भाषाओँ में एक साथ प्रकाशित) रामदयाल मुंडा, शाम की सुबह (1981)वाल्टर भेंगरा तरुण, मौनघाटी(1982) पीटर पॉल एक्का। गैर आदिवासी लेखकों द्वारा आदिवासियों से सम्बंधित लेखन आजादी के बहुत पहले से ही शुरू हो गई थी। जैसे रामचीज वल्लभ सिंह का वन विहंगिनी (1909)और रामदीन पाण्डेय का चलता पिटारा (1938)। चूँकि दोनों ही रचनाएँ अनुपलब्ध है। उपलब्ध रचनाएँ 60 के दशक से देखने को मिलता है, जैसे योगेन्द्रनाथ सिन्हा का वनलक्ष्मी (1956)।

हालाँकि आदिवासी साहित्यकारों द्वारा हिंदी में लेखन की प्रक्रिया पचास के दशक में ही शुरू हो गई थी, जो वन्दना टेटे द्वारा सम्पादित कहानी संग्रह एलिस एक्का की कहानियाँ से स्पष्ट होता है। एलिस एक्का के बारे में वन्दना टेटे लिखती हैं– "**एलिस एक्का हिंदी की पहली आदिवासी कथाकार हैं। उन्होंने पचास के दशक में लेखन आरम्भ किया था और 1947 से शुरू हुई साप्ताहिक आदिवासी की वह नियमित लेखिका थीं।**"[3] एलिस की अब तक प्राप्य पहली कहानी आदिवासी के 17 अगस्त 1961, वर्ष 15, अंक 28–29 में छपी। जिसका शीर्षक है **वनकन्या**। हो न हो इससे भी पहले रचनाएँ रची गई हों क्योंकि ये पत्रिकाएँ नियमित उपलब्ध नहीं हैं। जिस प्रकार ये पत्रिकाएँ नियमित उपलब्ध नहीं होते हैं उसी प्रकार आदिवासी रचनाकारों की रचनाएँ भी उपलब्ध नहीं है, जैसे 1980 में छपा रामदयाल मुंडा का कहानी संग्रह ऐसे जगह से छपा और खत्म भी हो गया। उनकी ये रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं। ऐसे ही अन्य आदिवासी साहित्यकारों की रचनाएँ छपती हैं और लुप्त हो जाती हैं। आदिवासी जीवन और समाज पर रोशनी डालने वाली इन रचनाओं की चर्चा हिंदी साहित्य में बहुत कम हुई है। ये आदिवासी साहित्यकार हिंदी के साहित्यिक जगत में हमेशा हाशिये पर रहे हैं। इनकी रचनाएँ भी बड़े प्रकाशकों ने नहीं छापी जिससे हिंदी का साधारण पाठक इन रचनाओं से आमतौर पर परिचित नहीं हैं। इस सन्दर्भ में वीर भारत तलवार सवाल करते हुए कहते हैं – "**आदिवासियों पर जो भी उपन्यास लिखे गए हैं, वो खाली रिसर्च करने वाले लोग उनको जानते हैं। उनको कोई पढ़ता नहीं है। कितने लोग पढ़ते हैं आदिवासियों पर लिखे गए उपन्यासों को और खुद आदिवासियों के लिखे उपन्यासों को कितने लोग पढ़ते हैं? पीटर पॉल एक्का का उपन्यास कितने लोगों ने पढ़े हैं या मंगल सिंह मुंडा का उपन्यास कितने लोगों ने पढ़ा है?**"[4]

आदिवासियों से सम्बंधित लेखन के बारे में डॉ. वीर भारत तलवार कहते हैं – "**हिंदी में और भारतीय भाषाओं में आदिवासियों को लेकर जो साहित्य लिखा जाता है उनमें चार तरह की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं–**

एक तो ऐसे लेखक हैं, जो बड़े और ऊँचे ओहदों पर बैठे हैं, बड़ी हैसियत वाले हैं, उन लोगों ने जो आदिवासियों पर लिखा है, उससे गलत कुछ हो नहीं सकता। बेहतर था वे इस पर न लिखते।

दूसरे तरह के लेखक वैसे लोग हैं जिन्होंने आदिवासियों के बारे में लिखा, उनकी बड़ी पापुलर सी बातें उठाई, जिनको आप शोर कहते हैं। जिन चीजों का शोर है। करीब–करीब तथ्य के रूप में गलत नहीं है। लेकिन आदिवासी समाज के बारे में सुपरफिसियल, एक सतही जानकारी के आधार पर लिखा गया है।

तीसरी श्रेणी के वैसे लेखक हैं, जिनके बारे में मैं कहूँगा कि उनको आदिवासियों से सच्ची सहानुभूति है। वे आदिवासी नहीं हैं। वे बाहर से आये हैं, लेकिन आदिवासी समुदाय के बहुत करीब रहे चाहे अपनी स्थिति के कारण करीब रहे, चाहे उनको जानने समझने की दृष्टि, जिससे उनके बीच जाकर रहे लेकिन उन्होंने काफी मनोयोगपूर्वक उस समाज का अध्ययन किया, देखा, समझा, सहानुभूति के साथ लिखा और जो लिखा वह गलत नहीं लिखा।

चौथी श्रेणी के लेखक हैं और बहुत कम है जो जो खुद आदिवासी लेखक या लेखिका अपने समाज के बारे में लिखें और वह भी हिंदी में, अपनी भाषा में तो लिखते हैं खासकर गीतों की रचना बहुत होती है, पर हिंदी में लिखने वाले बहुत कम हैं।"[5]

पिछले कुछ वर्षों से आदिवासी विमर्श बहुत चर्चे में है। विभिन्न विश्वविद्यालयों या संस्थाओं में गोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन किया जा रहा है, जिससे पुरानी रचनाओं के साथ–साथ आदिवासी दर्शन और आदिवासी साहित्य के बारे में जानने को मिल रहा है। दूसरी ओर नए–नए आदिवासी रचनाकारों का भी पदार्पण हो रहा है।

झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा द्वारा **आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन** विषय पर आयोजित संगोष्ठी के संक्षिप्त रपट में कहा गया है – "**आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन के तत्त्वों का होना है। जिस साहित्य में प्रकृति की लय–ताल और संगीत का अनुसरण हो,**

सम्पूर्ण जीव जगत के प्रति कृतज्ञता हो, जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करे, जहाँ सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर संगीत हो और जो मूल आदिवासी भाषाओं में रचा गया हो वही आदिवासी साहित्य है।"[6] आदिवासी साहित्य के बारे में वंदना टेटे लिखती हैं – "**आदिवासी साहित्य वही है जो आदिवासियत की परंपरा और उसके विश्वदृष्टिकोण के अनुरूप लिखा गया है। समष्टि आधारित आदिवासी ध्वनि, संगीत, भाषा, जीवन परंपरा और प्रकृति से संपृक्त साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।"**[7] आदिवासी जीवन दर्शन को स्पष्ट करते हुए ग्लैडसन डुंगडुंग कहते हैं – "**आदिवासी दर्शन नीड बेस है। वह कहता है उतना ही लो जितनी जरुरत है। अगर गाँव में दस आम पेड़ हैं तो वह उतना ही लेगा जितना वह खा सकता है। बाकी वह दूसरों के लिए यानी समुदाय के लिए छोड़ देता है। दूसरा समाज तो आम फलने से पहले ही उसकी नीलामी कर देता है।"**[8]

14–15 जून 2014 को रांची में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में आदिवासी दर्शन और साहित्य को ठोस रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसे **आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा पत्र** के तौर पर जाना जा रहा है। और अब आदिवासी साहित्य विमर्श का केन्द्रीय बिंदु बन गया है।

आदिवासी साहित्य का 15 सूत्री रांची घोषणा पत्र :–

आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है जिसके मूल तत्व हैं–

"1 प्रकृति की लय, ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो।

2 जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय सम्बन्ध और गरिमा का सम्मान करता हो।

3 जिसमें पुरखा पूर्वजों के ज्ञान–विज्ञान, कला–कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो।

4 जो समूचे जीव–जगत की अवहेलना नहीं करें।

5 जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो।

6 जिसमें जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा हो।

7 जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो।

8 जो धरती को संसाधन की बजाय, माँ मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो।

9 जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो।

10 जो हर तरह की गैर बराबरी के खिलाफ हो।

11 जो भाषाई व सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार पक्ष में हो।

12 जो सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतीकों, मिथकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से असहमत हो।

13 जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव–बचाव में यकीन करता हो।

14 सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर संगीत हो।

15 मूल आदिवासी भाषाओं में अपने विश्वदृष्टिकोण के साथ जो प्रमुखतः अभिव्यक्त हुआ हो।"[9]

आदिवासी साहित्य की अवधारणाः आदिवासी एवं गैर आदिवासी दृष्टि :–

आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीन तरह के मत हैं –

"1 आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।

2 आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।

3 आदिवासियत (आदिवासी दर्शन) के तत्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।

पहली अवधारणा गैर आदिवासी लेखकों की है। परन्तु समर्थन में कुछ आदिवासी लेखक भी हैं। जैसे रमणिका गुप्ता, संजीव राकेश कुमा सिंह, महुआ माजी, बजरंज तिवारी, गणेश देवी आदि गैर आदिवासी लेखक, और हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, आईवी हंसदा आदि आदिवासी लेखक।

दूसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों की है जो जन्मना और स्वानुभूति के आधार पर आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानते हैं।

अंतिम और तीसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों की है, जो आदिवासियों के तत्वों का निर्वाह करने वाले साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं।"[10]

झारखण्ड के आदिवासियों से सम्बंधित आदिवासी एवं गैर आदिवासी साहित्यकारों की कुछ एक रचनाएँ तथा उनमें निहित विषय–वस्तु :–

आदिवासी विमर्श के नाम पर कई गैर आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासियों के बारे में लिखा है। आदिवासियों के बारे में लिखने वाले इन साहित्यकारों का विभाजन उपर्युक्त पंक्तियों में ही वीर भारत तलवार के हवाले से श्रेणीबद्ध तरीके से स्पष्ट किया गया है। गैर आदिवासी लेखकों का सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन आदिवासियों से बिल्कुल अलग है फिर भी उन्होंने आदिवासियों के बारे में जानने की कोशिश की तथा उनके बारे में लिखा। कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिन्हें आदिवासियों के बीच में या निकट रहने का मौका मिला और उन्होंने उसका पूरा लाभ उठाकर आदिवासियों के बारे में लिखकर उनकी समस्याओं संघर्षों तथा जीवन शैली को पाठकों तक लाने की कोशिश की है। झारखण्ड के आदिवासियों पर लिखने वाले कुछ गैर आदिवासी साहित्यकार हैं जैसे रणेंद्र, अश्विनी कुमार पंकज, विनोद कुमार, राकेश कुमार सिंह, राजेंद्र अवस्थी, संजीव, रमणिका गुप्ता, महाश्वेता देवी तथा महुआ माजी हैं।

आदिवासियों से सम्बंधित अधिकांश रचनाओं में, लेखक चाहे आदिवासी हो या गैर आदिवासी, रचनाओं की विषय–वस्तु में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता है। आदिवासी विमर्श के नाम पर आदिवासी साहित्यकारों तथा गैर आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा कई रचनाएँ रची गई हैं और रची जा रही है फिर भी आदिवासी विमर्श अपनी चरम स्थिति पर है।

आज तक आदिवासी विमर्श के नाम पर आदिवासियों की मुख्य समस्याएँ विस्थापन, पलायन एवं पिछड़ेपन पर ही लिखा जाता रहा है। इन रचनाकारों के द्वारा आदिवासियों की दयनीय स्थिति पर ही जोर दिया जाता है। हालाँकि कुछ आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में भोगे हुए का अहसास होता है अर्थात उन्होंने जो जीया वही लिखा है।

राजेंद्र अवस्थी कृत **महुआ का फूल** बस्तर की **गोंड** जनजाति पर आधारित है। इस उपन्यास में लेखक ने सरकार और अंग्रेजी राज का वर्णन किया है। इसमें लेखक ने यह दिखाया है कि किस प्रकार सरकार चालाकी से आदिवासियों को बेवकूफ बनाकर उनके नैसर्गिक अधिकारों को हड़पने की कोशिश करती है।

बस्तर के घोटुल जीवन वहाँ के संस्कृति वहां के निवासियों के रीति–रिवाज और उनके जीवन को लेखक ने पाठकों के सामने रखा है। प्रत्येक त्योहार को वे समाज में आस्था के साथ निबाहते हैं। उदाहरण के लिए लाडुकाज गोंड जनजाति का मुख्य उत्सव है जिसमें नारायण देव की पूजा की जाती है जो साल में एक बार मनाया जाता है। उसके पीछे उसकी आस्था यह है कि साल भर नारायण दें गाँव कि रक्षा करेंगे, भूत–प्रेत और चुड़ैल से बचाए रखेंगे।

उपन्यास के मुख्य पात्र सुलकसाए और महुआ विवाह न करने का व्रत लेकर घोटुल जीवन के माध्यम से ही गाँव की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष करते हैं क्योंकि अंग्रेजी सरकार उनकी जमीन पर कब्जा करने की कोशिश में लगी हुई थी। गोंडों का मानना है कि यह जमीन हमारी है, जंगल हमारे हैं यहाँ की धरती हमारी

है। जिस लिंगो ने यह धरती बनायी है उसी ने हमें बनाया है अर्थात हम इस धरती के मालिक हैं। यहाँ पर हम जहाँ चाहेंगे वहाँ रहेंगे, अपनी इच्छानुसार खेती करेंगे। अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध गोंडों ने कदम उठाने का निर्णय लिया। सभा बुलाई गई जिससे आसपास के लोगों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना आयी। परिणाम यह हुआ कि अब सरकारी अधिकारियों के प्रति लोगों में घृणा जागृत हो गई। गोरे अंग्रेजों ने आदिवासियों से चिकनी चुपड़ी बातें करके उन्हें धोखे में रखकर उनके नैसर्गिक अधिकारों पर कब्जा करने के लिए उन पर हमला किया जिससे हजारों आदिवासी मारे गए। किन्तु ये आदिवासी जो जंगल के फूल माने जाते रहे हैं वे मुरझाए नहीं। उनका विद्रोह खत्म नहीं हुआ। वे निरंतर अपनी अस्मिता तथा अपनी स्वायत्ता की रक्षा के लिए संघर्ष करते रहे हैं, और आज भी कर रहे हैं।

झारखण्ड की **हो** जनजाति पर आधारित योगेन्द्रनाथ सिन्हा का उपन्यास है **वनलक्ष्मी**। सिंहभूम जिले के घने जंगलों में अंग्रेजी कंपनी का ठेका था। कंपनी का मुख्य व्यापार था शाल के मोटे–मोटे पेड़ों को कटवाना। इनसे रेल स्लीपर चिरवाना या बोटे तैयार करना और तैयार माल को कलकत्ता भेजना। मूलहाउस कंपनी में सिर्फ मोटे–मोटे पेड़ों को ही प्रयोग में लाया जाता था, बाकी सभी को काटकर अनावश्यक फेंक दिया जाता था। हो कबीले के लोगों ने उन पेड़ों के महत्त्व को समझा और उन पेड़ों की लकड़ी को प्रयोग में लाने का निर्णय लिया। साथ ही आय के लिए जंगलों में पायी जाने वाली जड़ी बूटियों को भी संग्रह करने का निर्णय लिया, जिससे गाँव के सभी लोगों बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को रोजगार के अवसर मिल सके। परिणाम यह हुआ कि वहाँ धीरे–धीरे बेरोजगार मिटती गई।

उपन्यास में हो आदिवासियों के अलावा कुछ गैर आदिवासी गरीब भी काम करते हैं। मि. जेफरन कम्पनी के मैनेजर हैं तथा अच्छे स्वभाव के हैं। मनसुखदास छोटे साहब के नाम से जाने जाते हैं, जिसका व्यक्तित्व अच्छा नहीं है। हमेशा मनमानी करते हैं और कम्पनी का भला कभी नहीं सोचते। इसके ठीक विपरीत कहानी का मुख्य पात्र शिवदत्त एक अच्छे चरित्र वाले व्यक्ति हैं। वह मूलहाउस कम्पनी में सुपरवाइजर का काम करता है। बुदनी एक हो लड़की है जो जेफरन की

ठेकेदार कम्पनी में मजदूरी करती है। बुदनी बहुत ही सुन्दर और आकर्षक है जिसके कारण मैनेजेर जेफरन उसके साथ रासलीला भी करता है। शिवदत्त व्यक्तिगत रूप से साधु प्रवृत्ति का धार्मिक और सहिष्णु व्यक्ति है। उसने कम्पनी की निःस्वार्थ सेवा की। उसका मानना है, निःस्वार्थ कर्म ही योग है, धर्म है। एक तरफ शिवदत्त की कृपा से मजदूर कम्पनी के लिए निःस्वार्थ कार्य करते रहे और कम्पनी का मुनाफा उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दूसरी ओर महान जेफरन की कृपा से बुदनी बिना ब्याह के ही उसके बंगले पर रहकर निष्काम प्रेम करती रही और जेफरन का निष्पाप विनोद उतरोत्तर बढ़ता गया।

आदिवासियों से सम्बंधित ज्यादातर उपन्यास संथाल जनजाति पर केन्द्रित है। विनोद कुमार कृत **समर शेष है** संथालों पर केन्द्रित है। मधुकर सिंह कृत **बाजत अनहद ढोल** तथा राकेश कुमार सिंह कृत **जो इतिहास में नहीं है** संथालों के मुख्य जनान्दोलनों **हूल** पर केन्द्रित है। स्वतंत्रता सेनानियों में रानी लक्ष्मीबाई का नाम इतिहास में बड़े आदर के साथ लिया जाता है, लेकिन संथाल हूल की मुख्य नारी सेनानी फूलो और झानो का इतिहास में कहीं जिक्र तक नहीं मिलता है। यही वजह है कि संथाल हूल को केंद्र में रखकर मधुकर सिंह ने **बाजत अनहद ढो**ल तथा राकेश कुमार सिंह ने **जो इतिहास में नहीं है** उपन्यास लिखा है।

अंग्रेजी शासन, महाजनी शोषण, जबरन नील की खेती, पुलिस का अत्याचार, सरकारी भ्रष्टाचार और जमींदारी की बेगारी से तंग आकर 1855 ई. में सिधो–कान्हू द्वारा अपने गाँव भागनाडीह में एक सभा बुलाई गई थी। सभा में सीदू–कानू ने यह घोषणा कर दी कि इस **दामिन–ई–कोह** में अपना राज्य होगा, अपनी सरकार होगी और महाजनों को यहाँ से मार भगाना होगा। हम उनका (सरकारी) आदेश नहीं मानेंगे, लगान नहीं देंगे और न ही नील की खेती होगी। इस प्रकार देखते ही देखते राजमहल पहाड़ियों में विद्रोह फैल गया। यही वह दिन था जब अंग्रेजों के शोषण पर टिके शासन को पहली बार हिलाया गया था। 5 फरवरी 1856 को सिधो को फांसी दिए जाने तक यह विद्रोह चलता रहा।

देखा जाए तो सन 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम नायक के रूप में सिधो–कान्हू को मानना अनुचित नहीं होगा। इस आन्दोलन में 60 हजार लोगों ने एक साथ लड़ाई लड़ी और करीब 15 हजार लोगों ने अपनी जानें गवां दी। सन 1857 के पूर्व के ये वही संथाल थे जिनके जल, जंगल, जमीन पर बाहरी लोगों ने आधिपत्य जमा लिया था और उन्हें उनके नैसर्गिक अधिकारों से लगातार बेदखल किया जा रहा था।

उपन्यास में संथाल हूल की कथा के साथ–साथ संथाल आदिवासी हारिल मुर्मू तथा उरांव युवती लाली की प्रेम कथा है। इनकी प्रेम कथा के माध्यम से संथालों और उरांवों की लोक संस्कृति का परिदृश्य सामने आता है। उपन्यास में उनकी जीवन शैली, पर्व त्योहार, नाच–गाना आदि सभी चीजों को समाहित किया गया है। उनकी इस प्रवृत्ति पर जमींदारों, महाजनों की काली छाया का पड़ना स्वभाविक ही थी। शोषकों की प्रवृत्ति को भी उपन्यास में भली–भांति दिखाया गया है। उस इलाके में महाजनों के घुसते ही आदिवासियों का शोषण शुरू होता है और यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक कि वे महाजन उनकी जमीन हथिया नहीं लेते। आर्थिक शोषण के साथ ही, स्त्री समस्या आदिवासियों की एक बड़ी समस्या रही है। इन्हीं सब कारणों के चलते सिधो–कान्हू ने विद्रोह का बिगुल बजाया था। हूल सिर्फ उनका विद्रोह नहीं था, बल्कि अपनी अस्मिता, स्वायत्ता और संस्कृति को बचाए रखने के लिए संघर्ष भी था।

समर शेष है विनोद कुमार सिंह द्वारा लिखा गया है। उन्होंने इस उपन्यास में संथाल आदिवासियों को केंद्र में रखकर उनकी जीवन शैली, उत्पीड़न, शोषण तथा उनकी समस्याओं व संघर्षों को गहराई से प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में संथाल आदिवासियों के महाजनी शोषण और विस्थापन के दर्द को भी सामने लाता है साथ ही यह झारखण्ड आन्दोलन का भी प्रतिनिधित्व करता है। डॉ. वीर भारत तलवार ने इस उपन्यास को झारखण्ड आन्दोलन पर लिखा गया अब तक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है। उपन्यास मशहूर आदिवासी नेता शिबू सोरेन के प्रारंभिक क्रांतिकारी जीवन को केंद्र में रखकर लिखा गया है। आदिवासियों की जमीन पर

महाजन जबरन खेती करते थे, साथ ही उनका मनमाना शोषण भी करते थे। इसके खिलाफ शिबू सोरेन का 1974–75 में **धनकटिया आन्दोलन** हुआ, जो आदिवासियों की जमीन पर महाजनों द्वारा जबरन की गई फसल को काट डालने से सम्बंधित था। इसके अलावा भी इस उपन्यास में झारखण्ड क्षेत्र में हुए विभिन्न जनांदोलनों को चित्रित किया गया है।

झारखण्ड आन्दोलन पर आधारित संजीव कृत **पांव तले की दूब** उपन्यास में मुख्य रूप से आदिवासी अस्मिता, आदिवासी संघर्ष और आदिवासी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया गया है। यह उपन्यास आदिवासियों के हितों के लिए काम करने वाले एक ईमानदार सुदीप्त की आत्मकथा है। झारखण्ड आन्दोलन में कई राजनीतिक व गैर राजनीतिक कार्यकर्ता शामिल रहे हैं। उनकी अपनी–अपनी आकांक्षाएं और लक्ष्य रहे हैं, जिनको पूरा करने के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। ऐसा ही एक युवक सुदीप्त भी था, जो इस आन्दोलन के तमाम चरित्रों के बीच अंत तक अपना पूरा योगदान देता है। झारखण्ड आन्दोलन सदियों से उपेक्षित रहे आदिवासियों के अधिकारों और सम्मान की लड़ाई है। उनकी आकांक्षा यह थी कि उनका अपना अलग झारखण्ड राज्य बने, जिससे सभी को रोजगार के अवसर मिल सके, सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली हो, और यहाँ पाए जाने वाली खनिज सम्पदा का सही उपयोग हो सके।

संजीव कृत एक दूसरा उपन्यास **सावधान नीचे आग है** शीर्षक उपन्यास में औद्योगीकरण के चलते आदिवासियों के बदलते स्वरुप पर आधारित है। इस उपन्यास में किस तरह से कोयला खदान में मजदूरों का शोषण होता है। उन शोषण को अपनी लेखनी के माध्यम से पाठकों के सामने लाने की कोशिश की है। यह उपन्यास कोयला खदान दुर्घटना की विपदा में फंसी मानवीय नियति की गाथा है। **धार** शीर्षक उपन्यास में भी लेखक संजीव ने कोयला माफियाओं और पुलिस के द्वारा आदिवासियों पर किये जाने वाले अत्याचारों को जीवंत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसी विषय पर आधारित अश्विनी कुमार पंकज की एक बहुत अच्छी कहानी है – **अपनी कब्र खोदने वाले।** इस कहानी में दलित और आदिवासियों की कोयला खदान से विस्थापित लोगों की दर्दनाक कहानी है। यहाँ कई ऐसे बंद खदान हैं, जहाँ पर उनकी

चोरी छुपे रोजी–रोटी चलती है। वे उन अवैध खदानों को वैध करने की कोशिश भी नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें डर है कि इस चक्कर में कहीं उनका एकमात्र जीविका का साधन भी उनसे छूट न जाए।

बंद पड़ा खदान जीवन देती है(जीविका का साधन) तो जीवन लेती भी है। इस खदान में खदान के धंसने से अगर किसी की मृत्यु भी हो जाती है तो वे उनको भी दबा देते हैं। मृतक का परिवार मृतक के लिए खुलकर रो भी नहीं सकते। अपने सगे सम्बन्धियों के शव पर दावा तक नहीं कर सकते। यह उनकी जिंदगी की कड़वी सच्चाई है। क्योंकि वे कानूनी कार्रवाई में पड़ना नहीं चाहते, इसका कारण सिर्फ और सिर्फ आर्थिक तंगी है।

पेनाल्टी कॉर्नर शीर्षक कहानी संग्रह में लेखक अश्विनी कुमार पंकज की कई और कहानियाँ हैं जो आदिवासियों की समस्याएँ, गरीबी तथा आदिवासी महिलाओं की कमजोरियों के साथ–साथ महिला सशक्तिकरण को दर्शाता है। पेनाल्टी कॉर्नर एक गरीब आदिवासी परिवार की कहानी है। किस तरह यह परिवार आर्थिक समस्याओं से घिरा है। छोटी–छोटी चीजों के लिए वह किस तरह लालायित है। कहानी में उनकी तीन संताने हैं। एक बेटी हॉकी बहुत अच्छा खेलती है। जिला स्तर पर हॉकी खिलाड़ियों का चुनाव होने वाला है। अगर चुनी जाती है तो उनके प्रशिक्षण का भार सारा सरकार के हाथों होगा ऊपर से छात्रवृत्ति भी मिलेगी। किन्तु इसके लिए जूते और हॉकी स्टिक की जरुरत है। उसी जरुरत को पूरा करने के लिए पिताजी का जद्दोजहद और अन्तर्द्वन्द्व पूरी कहानी में है जो अंत तक चलते रहता है किन्तु पूरा नहीं हो पाता है।

यूरेनियम कारखाना से उपजी विभिन्न समस्याओं पर **जिस दिन बुद्ध मुस्कुराये** शीर्षक कहानी है जो पूर्वी सिंहभूम के जादूगोड़ा से सम्बंधित है। कहानी में रेडियोधर्मी विकिरण से उपजी विभिन्न समस्याओं को लेखक ने बड़ी बारीकी से चित्रण किया है। "**स्वर्ण रेखा और गुर्रा नदियों की सारी मछलियाँ न जाने कहाँ चली गईं। खेतों में भी पैदावार अब उतनी नहीं होती। पेड़ों में फल लगते ही मर जाते हैं।**

खाना और जीना दूभर हो गया है गाँव वालों का। ऊपर से पूरे इलाके में न जाने कैसी कैसी बीमारियाँ होने लगी है।"[11]

यहाँ की लड़कियों की शादी नहीं हो पाती है और न ही कोई अपनी लड़की उस इलाके में देना चाहता है। क्योंकि यूरेनियम से जो विकिरण निकलता है वह मनुष्य शरीर के साथ–साथ पूरे वातावरण को जहरीला बना देता है जिससे बच्चे पैदा भी होते हैं तो लंगड़े–लूले या मरा हुआ। इस कहानी में दामा की बेटी रुपनी का रिश्ता तय हुआ है। सभी खुश हैं क्योंकि वर्षों बाद किसी की शादी की बात चल रही है। पर इस रिश्ते को लेकर भी शंका है कि कहीं लड़के वालों को पता चल गया इस इलाके के बारे में, तो वे रिश्ता ठुकरा देंगे। इस रिश्ते को बचाने के लिए माझी हड़ाम का भी सहारा लिया जाता है। सलाह के रूप में – "**सावधानी..... सबको सावधानी रखनी होगी। मैंने पूरे गाँव में सूचना करवा दी है। कल सुबह से शाम तक ऐसा कोई भी मरद जनी, बूढ़ा छउवा घर से बाहर नहीं निकलेगा, जिससे मेहमानों को गाँव की असलियत मालूम हो।"**[12] किन्तु उन मेहमानों को बीमारियों का पता चल ही जाता है और वे अपना रिश्ता ठुकराते हुए कहला भेजते हैं – "**उस गाँव से सम्बन्ध नहीं करेंगे, जहाँ की लड़कियाँ बाँझ होती हैं।"**[13]

यूरेनियम कारखाना से उत्पन्न विकिरण, प्रदूषण व विस्थापन से जूझते आदिवासियों पर महुआ माजी द्वारा लिखा गया उपन्यास है – **मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ।** इस उपन्यास में आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं के साथ साथ द्वितीय विश्व युद्ध में हुए विध्वंस से लेकर आज प्रायः सम्पूर्ण विश्व में रेडियोधर्मी विकिरण तथा विकास के नाम पर भूमि अधिग्रहण द्वारा निरंतर विस्थापित होते आदिवासियों की करूण कथा कही गई है। महुआ माजी ने गहरे शोध, सर्वेक्षण और समाजशास्त्रीय दृष्टि का सहारा लेकर इस उपन्यास के माध्यम से एक जरूरी हस्तक्षेप किया है। जिसके कारण उन्होंने सहज भाषा–शैली में झारखंडी हिंदी का प्रयोग करते हुए पूर्वी सिंहभूम के जादूगोड़ा में यूरेनियम कारखाना से उपजी आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं को पाठकों के सामने रखा है। गोनोंग प्रथा, डायन तथा विस्थापन के

साथ–साथ उनके विद्रोह **मरांगगोड़ाज ऑर्गनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन** पर भी बड़ी बारीकी से व्यक्त करने में सफल रही हैं।

उपन्यास का केन्द्रीय पात्र सगेन प्रतिरोध की स्थानिकता को बरकरार रखते हुए विकिरण विरोधी वैश्विक आन्दोलन के साथ भी संवाद बनाता है। हिरोशिमा की दहशत और चेरनोबिल व फुकुशिमा सरीखे हादसे उसकी चेतना को लगातार प्रतिरोधी दिशा देते हैं। अच्छा यह भी है कि यह सबकुछ मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा एवं अन्तर्द्वन्द्व में घुलमिल कर प्रस्तुत हुआ है। सचमुच उपन्यास में वर्णित बहुत से तथ्य व मुद्दे अभी तक गम्भीर चर्चा का विषय नहीं बन सके हैं। इस रूप में यह उपन्यास एक नई भूमिका के रूप में भी प्रस्तुत है।

रेडियोएक्टिव विकिरणों का प्रभाव इतना खतरनाक होता है कि इसका खामियाजा मनुष्यों के साथ–साथ जीव–जंतुओं और पशु–पक्षियों, सभी को किसी न किसी रूप में भुगतना पड़ता है। भोले–भाले गाँव के लोगों को पता भी नहीं कि विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ क्यों हो रही है? बच्चे जन्म के साथ ही या गर्भ में ही क्यों मर रहे हैं? भयानक बीमारियों के चलते हो रहे असमय मृत्यु का कारण वे सिर्फ और सिर्फ डायन को ही मानते हैं। उन्हें यह लगता है कि डायन के मंत्र से ही सारी घटनाएँ घट रही है। और डायन कौन है? अपने ही समाज की किसी की पत्नी, किसी की माँ, किसी की चाची आदि । डायन करार देने के बाद उस महिला को विभिन्न जुल्मों के साथ–साथ मौत के घाट उतर दिया जाता है साथ ही परिवार वालों को भी समाज से बहिष्कृत किया जाता है। समाज में व्याप्त अन्धविश्वास और समस्या की जड़ को समझने की जरुरत है। उपन्यास में सगेन के माध्यम से ऐसे कारण को स्पष्ट करते हुए लेखिका लिखती हैं – "**दरअसल एक दिन जब एक पत्रिका में जापान के हिरोशिमा नागासाकी में हुए परमाणु बम विस्फोट के बाद जन्में विकलांग बच्चों की तस्वीरें देखी और उससे सम्बंधित रिपोर्ट पढ़ी तो उससे यूरेनियम की विध्वंसकारी शक्ति का अहसास हुआ। उसे यह तो थोड़ा बहुत पता था कि यूरेनियम से ही अणु बम और**

हाइड्रोजन बम बनाए जाते हैं, जिनकी चपेट में आने से सैकड़ो जानें जाती है मगर यह नहीं पता था कि इससे होनेवाले विकिरण का प्रभाव इतना विध्वंसकारी होता है कि बम विस्फोट के वर्षों बाद भी यह प्राणियों पर दुष्प्रभाव डालता है। नवजात शिशुओं को विकलांग बनाने की क्षमता रखता है। कैंसर जैसी लाइलाज बीमारियों से नयी–नयी पीढ़ियों को तबाह करने की कूवत रखता है और तभी उसे अपने मरंगगोड़ा के लोगों में होनेवाली अधिकतर लाइलाज बीमारियों की जड़ में यूरेनियम से होनेवाला विकिरण है न कि किसी दुष्ट बोंगा का प्रकोप या डाइन विद्या, जैसा वहां के अज्ञानी लोग अब तक समझते रहे हैं और निर्दोषों पर जुल्म ढाते रहे हैं।"[14]

ग्लोबल गाँव के देवता लेखक रणेंद्र का लघु उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने विलुप्त होते असुर समुदाय की सम्पूर्ण जीवन गाथा का वर्णन किया है साथ ही विश्व स्तर पर विलुप्त होती रेड इंडियन जनजातियों का भी संकेत किया है।

उपन्यास में बॉक्साईट खनन से उपजी विभिन्न समस्याओं के साथ–साथ असुरों की अपनी अस्मिता मनवाने की भी मुख्य समस्या रही है। क्योंकि असुरों के प्रति आज भी गलत धारणा बनी हुई है। लेखक लिखते हैं – "**असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे चौड़े, काले कलूटे, भयानक, दांत–वांत निकले हुए, माथे पर सींग–वींग लगे हुए लोग होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट–पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।**"[15]

उपन्यास में शुरू से अंत तक असुरों के संघर्षों का वर्णन है पूंजीपति वर्ग उनके नैसर्गिक अधिकारों पर कब्जा करने के उद्देश्य से उनका कोई भी काम सफल होने नहीं देते। फिर भी वे अपने इस संघर्ष को जारी रखते हैं। उनकी स्त्रियाँ भी अपने समुदाय को बचाने के लिए बढ़–चढ़ कर अपना योगदान देती हैं वे अंततः साजिश के तहत बम विस्फोट से उड़ा दिए जाते हैं। लेकिन असुरों का संघर्ष बम विस्फोटों के साथ ही खत्म नहीं होता है। पूरे उपन्यास में निष्कर्ष के रूप में यही सवाल बार–बार गूंजता रहता है कि क्या असुर समुदाय अपने को बचा पाएंगे? उनकी संख्या

बहुत ही कम है, वे अपनी जिंदगी की लड़ाई हार रहे हैं। उनकी संख्या सिमटती जा रही है तथा पूंजीपति वर्ग अपने इरादों पर दृढ़ होते जा रहा है। असुर समुदाय को बचाने के लिए जो संघर्ष है वह अब शिक्षित युवा वर्गों के कंधों पर है। देखने वाली बात यह है कि उनकी लड़ाई कब और कहाँ तक है? क्या ये शिक्षित युवा वर्ग अपने समुदायों को बचाने के लिए लड़ने को तैयार हैं? लेखक ने जिस प्रकार से उपन्यास का अंत किया है वह उनके संघर्ष को जिलाए रखने का संकेत देता है।

पीटर पॉल एक्का एक आदिवासी साहित्यकार हैं। विज्ञान पृष्ठभूमि के होने के बावजूद उन्होंने हिंदी में अनेक रचनाएँ की हैं। **'जंगल के गीत', 'पलास के फूल', 'सोन पहाड़ी', 'मौन घाटी'** इनके द्वारा लिखे गये उपन्यास हैं। इन्होंने कई कहानियाँ भी लिखी हैं जो इनके कहानी संकलन **'राजकुमारों के देश में', 'परती जमीन' और 'क्षितिज की तलाश में'** में संकलित हैं। उनकी रचनाओं में विषय–वस्तु के रूप में आदिवासियों के विभिन्न समस्याओं तथा संघर्षों के साथ साथ आदिवासी युवाओं के सपनों पर आधारित कहानियाँ हैं। युवाओं के सपनों को लेकर क्षितिज की तलाश में उनकी कहानियों का संग्रह है। उनके उपन्यासों में भी आदिवासियों की युवा शक्ति का वर्णन स्पष्ट दिखाई देता है। क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि आज के युवक ही कल के कर्णधार हैं। भगवान बिरसा मुंडा ने उलगुलान से यही सन्देश दिया था कि **'उलगुलान का अंत नहीं'**। वे यह जानते थे कि आदिवासियों से उनका संसाधन लूटा जाएगा, इसलिए उलगुलान ही उसका जवाब है। आदिवासी समाज में पले बढ़ने के कारण पीटर पॉल एक्का समाज की समस्याएँ एवं आदिवासी युवकों की कमजोरियों को अच्छी तरह से जानते हैं। यही कारण हो सकता है कि उन्हें जागृत करने के उद्देश्य से रचनाओं में वे आदिवासी युवा शक्ति पर विशेष जोर देते हैं, क्योंकि उलगुलान को मजबूती के साथ आगे बढ़ाना है तो युवाओं को जागना ही होगा।

मौनघाटी उपन्यास में कोलियरी खुलते ही घाटियों में बाहरी लोगों की घुसपैठ होने के साथ उनके द्वारा वहाँ के मूल निवासियों का मनमाना शोषण होता है जिसे लेखक ने बड़ी बारीकी से चित्रित किया है। शोषण की इस स्थिति में युवा शक्ति ने घाटी के लोगों में जागृति और चेतना लाने का काम किया। युवा शक्ति को

देखते हुए बाहरी घुसपैठी (दिकु) घाटी छोड़कर भागने लगे । उनके भागते ही पूरी घाटी जो अब तक मौन थी अचानक ही गुंजायमान हो उठी। ठीक उसी प्रकार जंगल के गीत उपन्यास के माध्यम से लेखक ने आदिवासियों के मुख्य प्रकृति पर्व करमा, सरहुल एवं उनके रीति–रिवाजों का वर्णन किया है। साथ ही आदिवासियों के मुख्य जनांदोलन उलगुलान का भी वर्णन किया है। उलगुलान अर्थात आदिवासियों की जमीन, खेत–खलिहान, पहाड़–पर्वत को उनसे छीनने वालों के विरुद्ध लड़ाई। उलगुलान का आह्वान था कि आदिवासियों की जमीन पर कब्जा जमाने वाले दिकुओं को एक–एक करके चलता करना होगा, तभी इस पहाड़ी इलाके में अमन चैन के गीत गाए जाएँगे। इस मिशन में वे सफल भी रहे। यह उनकी मेहनत, लगन और परिश्रम का ही नतीजा था कि सबकुछ बदल जाने के बाद भी पहाड़ियों पर बसे उन गाँव का दिल वही था, उनके जीवन में रचे बसे उन बेहिसाब गीतों के बोल वही थे, वही भावना थी, वही स्पंदन था।

कोकिला डैम परियोजना को लेकर पीटर पॉल एक्का का उपन्यास **सोनपहाड़ी** है। कोकिला डैम परियोजना के कारण सैकड़ों लोग बेघर हैं। इसी विस्थापन की पृष्ठभूमि पर लेखक की यह रचना है, जो विस्थापन से जुड़ी समस्याओं को उजागर करता है।

कोकिला डैम परियोजना का भार एक शहरी आदिवासी अभियंता सुनील के हाथों में है। चूँकि है तो वह एक आदिवासी ही, इसलिए उन्हें अपने लोगों का विस्थापित होने का दर्द है। इसलिए वह भी चाहता है कि जब तक पुनर्वास नहीं हो जाता तब तक कोई काम नहीं होगा। उनके विभागीय कर्मचारी और ठेकेदार सुनील को पैसे के बल पर अपने अनुकूल करना चाहते हैं, किन्तु किसी तरह का जादू उन पर नहीं चल पाता है, यानि सारे प्रयास व्यर्थ साबित होते हैं। गाँव में भी कुछ ऐसे आदिवासी युवा नेता हैं जिन्हें विस्थापन और पुनर्वास पर अच्छी जानकारी है। इसीलिए वे चाहते हैं कि जब तक पुनर्वास नहीं हो जाता अर्थात सोनपहाड़ी दूसरी जगह अच्छी तरह से बस नहीं जाता तब तक न काम करेंगे और न ही करने देंगे। इनकी मांगे जब तक पूरी नहीं हुई तब तक कोकिला डैम परियोजना भी अधूरा ही रहा। जैसे ही उनका

सुव्यवस्थित पुनर्वास हुआ वैसे ही डैम भी बनकर तैयार हो गया और वह इलाका एक नमूना की तरह लगने लगा। लेखक लिखते हैं – "**सोनपहाड़ी ने बहुत उन्नति कर ली। गाँव तक पक्की सड़क बना दी गई है। गाँव में सबकुछ है एक छोटा सा अस्पताल, बच्चों के लिए पाठशाला, एक खेल का मैदान, सांस्कृतिक कला केंद्र, नृत्य स्थल। गाँव की पंचायत के क्या कहने। युवक–युवतियों का एक अलग संगठन है। जीतू, बिरसा, सलया के नेतृत्व ने एक नयी दुनिया बना दी है – एक नया गाँव, खुशहाल गाँव। अब जाकर देखोगी न, तो सबकुछ बदला–बदला लगेगा तुम्हारा सोनपहाड़ी।**"[16]

पलास का फूल पीटर पौल एक्का का यह उपन्यास आदिवासियों की पलायन की कहानी कहता है। सुदूर पहाड़–पर्वतों से घिरा यह इलाका अत्यंत सुविधाविहीन किन्तु प्रकृति की गोद में बसने के कारण यहाँ के निवासी खुशी–खुशी अपना जीवन यापन करते हैं। उपन्यास में विकास के नाम पर सड़कें और पुल बनाने का काम चल पड़ा है। जिसके कारण उनकी जमीनें लुटती गईं। मुआवजा के नाम पर मिलने वाली राशि कागजों तक ही सीमित रही जिसके कारण पलायन जैसी समस्याएँ उनके सामने आता है। उपन्यास में कई अभियंता आये और गए किन्तु उपन्यास की कथा का आरम्भ इलाके में एक अन्य अभियंता के प्रवेश के साथ शुरू होता है। वह विभिन्न सवालों को लेकर आता है। किन्तु आते ही सलोमी और पार्वती जैसी युवतियों से मुलाकात होती है जिससे उसे उस इलाके में टिकने की शक्ति मिलती है।

लेखक ने इस उपन्यास में आदिवासियों की सरलता और सहजता के साथ–साथ बाहरी लोगों के आने से उत्पन्न शोषण एवं बुराइयों और आदिवासियों के प्रति बाहरी समाज की मानसिकता को दिखाया है। दो भिन्न जीवन पद्धतियों के आमने–सामने आने से पैदा हुई समस्याओं को लेखक ने उद्घाटित किया है। वन विभाग और खदान के आ जाने से न केवल जंगल साफ हुए हैं बल्कि आदिवासियों की आत्मनिर्भरता भी खत्म हुई है जिस कारण उनके शोषण का ही रास्ता तैयार हुआ है। मजदूर बनने के क्रम में अपना अस्तित्व और अस्मिता को खोते जा रहे आदिवासियों की पीड़ा यहाँ दिखती है जिसको उपन्यास की पात्र सलोमी बयान करती है –"**क्या करें आनंद बाबू, हम आदिवासियों का इतना ही भाग्य है। जमींदार, सेठ,**

साहूकार, शहरी बाबू सभी तो तंग करते हैं हमें । जीने कौन देता है ? आज हम यहाँ हैं, कल कहीं और होंगे । जंगल के जंगल, पहाड़–घाटियाँ जाने कहाँ–कहाँ भटकना होता है। सब तो भटकते ही जा रहें हैं। यहाँ से हजारों मील दूर चाय के बागानों, ईंट–भट्टों का स्वप्न कौन देखता है वहां भी दबाये जायेंगे । पर शायद दो जून की रोटी जुट जाएंगी। यही हमारा धर्म हो गया है, भाग्य बन गया है।"[17] अब जब सड़कें और पूल बनकर तैयार हो गया है। अभियंता आनंद बाबू को वहाँ से जाना है। ऐसे समय में वह देखता है कि गाँव वालों के सामने एक समस्या उत्पन्न हो गई है। उनके सामने मजदूरी का कोई साधन ही नहीं बचता है। उन्हें भीषण अकाल की प्रतीति होती है और सारा का सारा गाँव, इलाका कुछ एक को छोड़कर खाली हो जाता है। वह सड़कें और पुल जिसके लिए बनाया गया सब गाँव छोड़ चुके हैं।

उपन्यास का एक प्रमुख पात्र आनंद बाबू इस सवाल को कुछ इस तरह से रखता है –**"यह भी नियति का कैसा मजाक है। जिनके लिए इतनी मेहनत से सड़कें, पुल बनवाता रहा, उसपर चलने वाले ही लोग गाँव–घर छोड़कर बहुत दूर अनदेखी दिशाओं में चले जा रहे हैं। इन आदिवासियों के भाग्य में क्या यही लिखा है। जो बाँध बनते हैं, नहरें खोदी जाती हैं, जो सड़कें बनती हैं, खानें खुलती हैं, वह सब उनके लिए नहीं होता है, औरों के लिए होता है। उनके लिए हमेशा की वही मजूरी है, बेगारी है, जंगल के जानवरों की सुबगती निरीह, बेरौनक–सी जिंदगी है।"**[18] विकास के नाम पर किस तरह आदिवासी समाज को अपने जल, जंगल और जमीन से अलग होना पड़ रहा है साथ ही स्त्रियाँ ठेकेदारों या फोरेस्ट गार्ड के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाती हैं, कैसे वे उनके हवस का शिकार हो रहे हैं, इसका कारुणिक चित्र लेखक ने पाठकों के सामने रखा है।

पलायन की समस्या को विषय वस्तु का आधार बनाकर **लौटते हुए** शीर्षक उपन्यास वाल्टर भेंगरा तरुण ने लिखा है। उपन्यास में विशेषकर आदिवासी लड़कियों का देश के महानगरों में होने वाले शोषण, शारीरिक शोषण तथा बलात्कार पर आधारित है। लेखक ने इस प्रकार की जो घटनाएँ उपन्यास में दिखाया है वह आज की तारीख में कई गुणा बढ़ गया है।

सलोमी उपन्यास का मुख्य पात्रा है। उपन्यास में लेखक ने दिखाया है कि एक आदिवासी लड़की किस परिस्थिति में दिल्ली का रुख लेती है। वह चाहती थी कि अच्छे से पढ़ाई करे किन्तु आर्थिक तंगी के कारण नहीं पढ़ पाती है। स्कूल का फीस भरने के लिए उसके पिता लाचार हैं और सलोमी के छोटे भाई–बहन भी बहुत आगे तक पढ़ना चाहते हैं। सलोमी घर में बड़ी है इसलिए वह महसूस करने लगती है कि वह अपनी जिम्मेदारी उठाकर अपने भाई–बहनों की पढ़ाई को गति प्रदान करे। इसी उधेड़बुन में रहकर ही एक दिन वह दिल्ली जैसे महानगर की ओर अपना कदम बढ़ाती है। दिल्ली में उन्हें आया के रूप में काम मिल जाता है।

उपन्यास में हम देखते हैं कि सलोमी के साथ किस तरह शारीरिक शोषण और बलात्कार होता है। यह सिर्फ उसकी कहानी नहीं है बल्कि घरेलु काम–काज के रूप में काम करने वाली अधिकांश लड़कियों की यही कहानी रही है। उपन्यास में सलोमी जहाँ जाती है वहाँ हवस का शिकार होती है। यह घटना उसके साथ बार–बार दोहराई जाती है। ऐसे में वह हताश–निराश दिल्ली से वापस जाकर किसी चौरिटी में रहकर अनाथ बच्चों की सेवा करने लगती है। उसके साथ दिल्ली में ऐसी भयानक घटनाएँ घटी रहती है कि वह समाज का सामना ही करना नहीं चाहती है। इसीलिए वह दिन–दुनिया से बेखबर अनाथ बच्चों की सेवा के लिए ही अपने आपको उचित मानती है।

इसी प्रकार की समस्या प्रधान कहानियाँ इन सभी आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में मिलती है जो पाठक को उनके बारे में सोचने की नई दिशा प्रदान करती है।

इस प्रकार देखा जाए तो आदिवासियों से सम्बंधित लेखन में विषय वस्तु को लेकर आदिवासी रचनाकार और गैर आदिवासी रचनाकारों में कोई अंतर नहीं दिखाई देता है। लेखन की प्रवृत्ति दोनों की एक जैसी ही है। लेखन के रूप में आदिवासियों से सम्बंधित रचनाएँ गैर आदिवासियों के द्वारा ही पहले रची गई है। इसीलिए लिखने का जो ढांचा है वह गैर आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा ही बनाया

गया है। उनकी रचनाओं में आदिवासियों के दयनीय जीवन गाथा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

आदिवासी साहित्य लेखन का जो ढांचा गैर आदिवासी साहित्यकारों ने गढ़ा है, आज की तारीख में उसी ढांचे में रचनाएँ रची जा रही है। इस ढांचे का अनुसरण कुछ आदिवासी साहित्यकार भी कर रहे हैं। जिस तरह गैर आदिवासी साहित्यकार पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर कला और कल्पना की दुनिया में गोते लगा–लगा कर साहित्य लिख रहे हैं उस कला और कल्पना की दुनिया से कुछ आदिवासी साहित्यकार भी बचे हुए नहीं हैं। आदिवासी लेखकों के इस गुलामी के कारण अपना दुःख प्रकट करते हुए सामाजिक कार्यकर्ता व लेखक ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – **"उनके झूठी रचनाओं का हमपर इतना असर है कि आज हमारे लेखक और साहित्यकार भी उनके नजरिये में फंसकर मानसिक गुलामी का शिकार बन गए हैं। इसी गुलामी के कारण मेनस्ट्रीम का अनुसरण कर रहे कुछ आदिवासी लेखकों को अपना जीवन दर्शन नहीं दिख रहा है। ऐसे तथाकथित आदिवासी लेखक क्या लिख रहे हैं? कि आदिवासी गरीब हैं। आदिवासी कैसे नाचता है। कैसे खाता–पीता और सोता है। ऐसे आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों लेखकों के साहित्य पढ़ने से हमें यह बिलकुल पता नहीं चलेगा कि आदिवासी जीवन दर्शन क्या है।"**[19]

आदिवासी जीवन पर लिखने वाले गैर आदिवासी साहित्यकारों के बारे में डॉ. रोज केरकेट्टा लिखती हैं – **"आदिवासी जीवन पर गैर आदिवासी भी लिख रहे हैं। गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी साहित्य में शिल्प है परन्तु आदिवासी आत्मा नहीं है। उसके सर्जक अपनी दृष्टि से अच्छाई–बुराई का कलात्मत विवरण रखता है।"**[20] इस सन्दर्भ में ग्लैडसन डुंगडुंग कहते हैं – **"आजतक गैर आदिवासी लेखकों ने जितना भी लिखा है आदिवासियों पर, वह आदिवासी दर्शन को समझे बगैर लिखा है। जब आप आदिवासी जीवन दर्शन के बारे में नहीं जानेंगे और उसके बारे में लिखेंगे तो क्या लिखेंगे ? इसका मतलब है कि जो लेखकों ने लिखा, साहित्यकारों ने लिखा वह सरासर अन्याय है और इसके लिए उन्हें आदिवासी समाज से माफी मांगनी चाहिए। आदिवासियों पर लिखा आप समूचा साहित्य उठाकर देख**

लीजिये। उसमें आदिवासी जीवन दर्शन गायब है। लिखा क्या गया है ? आर्यों द्वारा लिखित साहित्य उठाकर देखिए। वेदों, रामायण, महाभारत वगैरह में क्या लिखा गया है? आदिवासी जंगली है, सूअर है, बंदर है, राक्षस है, असुर है। यह तो उनके पुराने साहित्य में है। आज के नए साहित्य पर भी नजर डालिए। उनके नए लेखन में भी यही मिलेगा कि आदिवासी चींटी खाने वाले हैं, आदिवासी हड़िया–दारू पीने वाले हैं। मतलब आजतक आदिवासियों के बारे में नेगेटिव रूप से ही लिखा और पेश किया जा रहा है।"[21]

संवाद और भाषा शैली

विषय वस्तु को लेकर भले ही आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों की लेखन प्रक्रिया एक हो किन्तु कुछ एक आदिवासियों की रचनाओं में जीवंतता नजर आती है। उनकी रचनाओं में पूरा आदिवासी समाज या आदिवासियों की जीवन शैली कथावस्तु के इर्द गिर्द घूमने लगती है। जैसे रोज केरकेट्टा की कहानियों को ही ले लें। उनकी कहानियाँ सिर्फ कहानियाँ नहीं कहती हैं बल्कि मानस पटल पर अनायास ही चलचित्र की भांति सामने झलकने लगती है। वैसे ही पीटर पॉल एक्का की कहानियों या उपन्यासों को लें या वाल्टर भेंगरा तरुण की कहानियों को लें। रचनाओं में जंगल झाड़, पहाड़–पर्वत, कंद–मूल, फल–फूल, पशु–पक्षियों के साथ–साथ आदिवासियों की दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त होने वाली छोटी–छोटी गतिविधियाँ, पर्व–त्योहार सभी साथ–साथ चलते हैं।

साहित्य लेखन के क्रम में भाषा शैली और संवाद को लेकर आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों की रचनाओं में बहुत अंतर है। संवाद के रूप में जिस भाषा शैली का प्रयोग रोज केरकेट्टा करती हैं वैसा किसी अन्य आदिवासी साहित्यकारों में भी नहीं है। हालाँकि भाषा शैली के रूप में आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में अपनी मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा के साथ–साथ झारखंडी हिंदी भाषा का

प्रयोग मिलता है। मंगल सिंह मुंडा और रामदयाल मुंडा की कहानी संग्रह, मुंडा और हिंदी दोनों भाषाओं में एक साथ संकलित है।

राजेंद्र अवस्थी ने अपने उपन्यास जंगल के फूल में अधिक चमत्कारपूर्ण बनाने के उद्देश्य से जिस गोंडी शब्दों का इस्तेमाल किया है, वह पाठक को अति महसूस कराता है। ऐसा लगता है वाक्यों के बीच में गोंडी शब्द जबरदस्ती डाला गया है। ऐसे में पाठक को जो रस मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाता है। हालाँकि गैर आदिवासी साहित्यकार तथा आदिवासी सहित्यकारों ने भी अपनी रचनाओं में अपनी मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग किया है, लेकिन उनमें जबरदस्ती का अनुभव नहीं होता।

कुछ एक आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में ऐसे संवादों और उक्तियों का प्रयोग किया गया है जिसे एक गैर आदिवासी साहित्यकार तो क्या, आदिवासी साहित्यकारों को भी समझने में मुश्किल होगी, जो उस इलाके से सम्बन्ध नहीं रखते हों या उस जीवन को नहीं जीया हो। वाल्टर भेंगरा तरुण की उक्ति है – **"भात पाक गया था तो उसने माड़ पसाकर अलग रख लिया। कुछ तो वह फुटकल झोर बनाने के लिए रखेगी और थोड़ा माड़ वह अपनी साड़ी में लगायेगी। साड़ी में माड़ लगाने से कड़क हो जाती है और पहनने में भी अच्छा लगता है। लेकिन अगर उसे लोहा से इस्त्री कर दो तो और भी मत पूछो। उसकी एक सहेली है गुड़िया कुमारी। उसका एक चाचा रांची में रहता है। उसने उसके लिए एक लोहा की इस्त्री ला दिया है। गुड़िया अपने कपड़ों को उसी लोहे की इस्त्री से चिकना करती है। बहुत ही अच्छे लगते हैं उसके कपड़े। तब से उसने अपने कपड़ों को माड़ लगाने के बाद चिकना करना शुरू कर दिया है। लोहे की इस्त्री तो नहीं है लेकिन उसकी मां को शादी के समय जो कांसे का लोटा मिला था, उसका पेंदा बहुत चिकना और सपाट था, वह उससे इस्त्री करती हैं।"**[22] इस प्रकार की उक्ति गैर आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में नहीं मिलेगी। आदिवासियों के ऊपर लिखने के क्रम में उनके खान–पान को लेकर माड़ झोर तक आ सकते हैं किन्तु आदिवासी बालाएँ रिवाईव के रूप में माड़ का

इस्तेमाल करेंगे, शैम्पू के रूप में नगड़ा मिट्टी का उपयोग करेंगे या इस्त्री के रूप में कांसे लोटे का इस्तेमाल करेंगे यह उनके सोच से परे है।

"मैं अभी झींगी बनाती हूँ। उसमें सूखी मछली डाल दूंगी, मजेदार बन जायेगी।"[23] इस प्रकार का लेखन थोड़ी बहुत जानकारी लेकर काफी नहीं है बल्कि ऐसे वर्णनों के लिए उस जीवन को जीना होगा, तभी उस अनुभूति और आदिवासी जीवन की छोटी–छोटी गतिविधियों में पाए जाने वाले आनन्द को अपनी लेखनी में उतार सकता है। यह तो रही साहित्यकारों की बात। अगर पाठकों की भी बात की जाए तो आदिवासी समाज से ताल्लुक नहीं रखने वाले पाठकों के अन्दर भी कुछ पल्ले नहीं पड़ने वाला है। उन्हें यह कतई विश्वास नहीं होगा कि नगड़ा मिट्टी शैम्पू का काम कर सकता है या माड़ रिवाइव का। उसी प्रकार झींगी में सूखी मछली का मिश्रण उन्हें अटपटा सा लगेगा वे कहेंगे ये कैसा सम्मिश्रण है ? किन्तु झींगी में सूखी मछली का मिश्रण भोगे हुए और उस जीवन को जीए हुए पाठक को रसानुभूति की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ लेखक वाल्टर भेंगरा तरुण लिखते हैं – "**अब जब मछलियाँ खेतों और डोभों में न भी मिलीं तो किसी भी सब्जी में सूखी मछली मिला दो तो तियान का स्वाद ही दोगुणा हो जाता है।**"[24]

रोज केरकेट्टा की भाषा शैली का एक उदहारण **बाही** शीर्षक कहानी से है। कहानी में जो वार्तालाप है, उसकी रसानुभूति शायद ही आप कर पाएँगे उस वार्तालाप के पीछे का लय भी कुछ अलग है यथा– '**नीचे से उसकी दीदी सोमारी गेंडूडांग से पके फल चुनचुन कर तोड़ रही थी मरियम बाही की आवाज सुनकर पेड़ के नीचे से बोली–**

'हमारे लिए भी हिला दो न बाही, चुनकर खाएँगे ।

बाही– तुमलोग भी चढ़ो और खाओ ना मामी (फूफू), तुम लोगों का भी तो हाथ–पैर है।'

मरियम – 'ओहरे बाही, हिला दो कह रही हूँ तो मुझे ही पेड़ चढ़ने कह रही है।'

बाही – 'हाँ तो मामी, तुम्हारा भी तो हाथ– पैर है । मै भी तो यही बोल रही हूँ।[25]

सहज वर्णन के क्रम में रोज केरकेट्टा की कहानियों में खड़िया नागपुरी देशज शब्दों की भरमार है। जैसे फरदी धोती, फोसफोसी, लटेइर, ठेठमुंगरा, पोगोइरढाहा भूति आदि। जैसे एक उदाहरण वाक्य के रूप में – "**पोगोइरढाहा कहीं का। इसीलिए तुम यहाँ आते थे। यही कमाते थे आज भूती मिल गया।**"[26]

आदिवासी महिलाओं के हक के सवालों के प्रति आदिवासी और गैरआदिवासी रचनाकारों की वर्तमान स्थिति –

आजतक आदिवासियों के कई मुद्दे उठाए ही नहीं गए हैं जैसे आदिवासी संस्कृति का सवाल, आदिवासियों की भाषाओं का सवाल, धर्म का सवाल तथा आदिवासी स्त्रियों के हक के प्रति सवाल। कुछ एक सवालों पर जैसे धर्म के सवाल पर रामदयाल मुंडा जी ने उठाने की कोशिश की है वहीं आदिवासी स्त्रियों के हक के सवाल को लेकर रोज केरकेट्टा की कहानियों में देखने को मिलता है।

डॉ• रोज केरकेट्टा की कहानियों में झारखण्ड के ग्रामीण परिवेश से गहरा जुड़ाव और स्त्री के हक के प्रति उनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसे **'भंवर'** कहानी में देखा जा सकता है। आदिवासी समाज में जहाँ कोई लिंग भेद नहीं किया जाता है, जहाँ लड़कियों के जन्म पर भी खुशी मनायी जाती है वहां एक विधवा स्त्री जिनकी सिर्फ बेटियाँ हैं, उनकी हत्या क्यों कर दी जाती है? स्पष्ट है कि आदिवासी समाज भी पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ जमीन पर स्त्री के हक के सवाल पर क्रूरता और हिंसा भी की जा सकती है। यह आदिवासी समाज के अन्दर की बड़ी प्रखर समस्या है। उसी प्रकार **'घाना लोहार का'** शीर्षक कहानी में भी कहानी की नायिका अपने हकों के लिए जूझती नजर आती है। यहाँ पर अधिकार नायिका के बेटे का है। नायिका एक आदिवासी है और गैर आदिवासी के संपर्क में आकर उसका पुत्र होता है। जमीन पर अधिकार उनके बेटे का है जिसे गैर आदिवासी पिता द्वारा वंचित किया जा रहा था क्योंकि वह एक आदिवासी औरत की कोख से जन्मा था जिसे वे नीची जाति का समझते हैं। घर के सभी कार्यों का भार वही आदिवासी स्त्री उठाती हैं। तब वह दाग नहीं रहता है और जब अधिकार की बात कही जाती है तब वे नीची जाति

के हो जाते हैं ? सबसे पहले तो सवाल यह उठता है कि आप इन्हें नीची जाति क्यों कहते हैं? थोड़ी देर के लिए नीची जाति मान लें तो भी क्या नीची जाति का कोई अधिकार नहीं होता ? ऐसे हालात में वह पंचों का भी सहारा लेती है। परमेश्वर कहे जाने वाले पंचों ने उसके प्रतिकूल फैसला सुनाया। क्या एक गैर आदिवासी पुरुष का बच्चा आदिवासी औरत की कोख से जन्मे तो उसका खून भी बदल जाता है ? फिर सोमारू के साथ ऐसा क्यों हुआ? अगर अधिकार देने की या जिम्मेवारी उठाने की हिम्मत नहीं है तो फिर ऐसा सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाता है?

अन्य अधिकार जो आदिवासी महिलाओं को वंचित है वह है हल चलाना व छप्पर छाना। हल तो स्त्रियों को छूना भी वर्जित है। इसके पीछे आदिवासियों की जो धरणा है जो रूढ़िवादी परंपरा है वह है यदि स्त्रियाँ हल छूती हैं या छप्पर छाती हैं तो वर्षा नहीं होगी अकाल पड़ेगा। रोज केरकेट्टा **झारखण्ड में सत्ता और संस्कृति में आदिवासी महिलाएं** शीर्षक लेख में बहुत ही सटीक सवाल करती हैं कि **"क्या प्रकृति ने स्त्री को इतनी ताकत दी है कि वह हल छूकर या छत छाजकर मौसम बदल सकती है? वर्षा को रोक सकती है? अकाल ला सकती है? अगर ऐसा है तो उन क्षेत्रों में क्यों नहीं अजमाया जाता है जहाँ तूफान और घनघोर वर्षा से लोग पीड़ित होते हैं।"**[27] परन्तु ऐसा नहीं है ये जो रुढ़िवादी परंपरा है वह पहले से लोगों के दिमाग में बैठायी गयी है या आज की तारीख में यूँ कहें एक रॉंग नंबर उनके दिमाग में फिट कर दिया गया है। अगर ऐसा होता तो प्राकृतिक आपदा से लोग कभी नहीं मरते। इस रॉंग नंबर को रोज केरकेट्टा ने अपने लेख में सिद्ध भी कर दिया है। वो लिखती हैं इसी देश में सहजानंद के नेतृत्व में किसान आन्दोलन को स्त्रियों ने सफल बनाया था। मझियावा रेवड़ा और दरमपुरा के सारे किसान जब गिरफ्तार हो गए तो उनकी स्त्रियों ने हल जोतने से लेकर किसानी के सारे काम किये थे। इसमें अवर्ण–सवर्ण सभी स्त्रियाँ शामिल थीं। ये सब स्त्रियों की शक्ति चिंतन और साहस के साक्षी हैं।

महिलाओं के हक के सवालों पर अशिनी कुमार पंकज की कहानी हैं – **जोजोहातु में आषाढ़ का एक दिन** । इस कहानी में एक विधवा महिला है उसकी सिर्फ एक बेटी है। समाज में यह अक्सर देखने को मिलता है कि जमीन हथियाने के लिए महिला को डायन बताकर मार दिया जाता है। इस कहानी में भी जमीन का सवाल है। महिला के देवर ने उसकी जमीन किसी को बंटाई देने से मना करता है। वह कहता है मेरे भाई का जमीन मैं ही जोतूँगा, किन्तु वह उपज का हिस्सा ईमानदारी से नहीं देता। महिला के प्रति उसकी नीयत भी ठीक नहीं थी। इसी कारण उनकी जमीन पिछले तीन सालों से परती पड़ी है। किन्तु वह नहीं चाहती कि उसकी जमीन परती रहे। लेकिन देवर के रहते वह किसी को बंटाई नहीं दे सकती।

आषाढ़ की बूंदें पड़ने लगी थी। समाज में महिलाओं को हल चलाना और छप्पर छाना मना है। कहानी में जमीन परती छोड़ने या देवर को बंटाई देने से अच्छा विधवा महिला ने खुद हल चलाना उचित समझती है। हल चलाते हुए देख देवर चिल्लाता हुआ कहता है – "**अरे! रोको इसे ... यह भरत खौकी पूरे गाँव को मार डालेगी! तमाशा क्या देख रहे हो...खेत बोंगा सारे बीहन जला देगा! उसके कोप से कोई नहीं बचेगा ....डायन को रोको**"[28] और महिला को लात मरते हुए उसी खेत में गाड़ने की धमकी देने लगा। किन्तु वह चुप नहीं रही। पलटवार करते हुए देवर को जोर का धक्का मारी और अकड़कर जवाब देने लगी – "**हां रे निरबसिया ....चोट्टा ....मैं हूँ डायन ....हां ...हूँ ....मैं डायन ....तेरे साथ साथ आज मैं उन सबको खा जाउंगी .... !!हरामजादा कहीं का ....बड़ा मरद बनता है....अकेली औरत और बच्ची पर जोर दिखाता है....भड़ुआ ....साला .....आज खून पी जाउंगी ...डायन बोलता है हरामी ....ले देख ...देख नामर्द ....कैसी होती है डायन ....देख ....देख...!**"[29]

इस तरह देखा जाए तो समाज में आदिवासी स्त्रियों की अच्छी दशा भी है और बुरी दशा भी। इनके सवालों को लेकर साहित्यकारों के द्वारा अब धीरे–धीरे सवाल उठ रहा है और उठेगा।

गैर आदिवासी एवं आदिवासी साहित्य और दर्शन में जो बुनियादी अंतर है उसे स्पष्ट करते हुए वंदना टेटे लिखती हैं – "**गैर आदिवासी और आदिवासी साहित्य पर जब हम नजर डालते हैं, उसकी अवधारणाओं और उसके विविध पहलुओं का अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि दोनों में संस्कृति के सभी संस्तरों पर अनेक बुनियादी अंतर है। भौतिक और अभौतिक जीवन की संकल्पना और अवधारणाएं दोनों की भिन्न हैं और दोनों के बीच गहरा सांस्कृतिक भेद है।**"[30]

सन्दर्भ

[1]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख रोज केरकेट्टा, पृष्ठ संख्या –54

[2]एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या –14

[3]एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या –9

[4]झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, सं. वंदना टेटे, अंक 2, जून–अगस्त 2013,पृष्ठ संख्या –15

[5]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, समीक्षकों की नजर में, समीक्षक – वीर भारत तलवार , पृष्ठ संख्या –15–16

[6]झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, सं. वंदना टेटे, अंक 1, मार्च– मई 2015 ,पृष्ठ संख्या –8

[7]एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या –22

[8]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख ग्लैडसन डुंगडुंग , पृष्ठ संख्या –66

[9]झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, सं. वंदना टेटे, अंक 1, मार्च– मई 2015 ,पृष्ठ संख्या –11

[10]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख वंदना टेटे , पृष्ठ संख्या –11–12

[11]पेनाल्टी कॉर्नर, अश्विनी कुमार पंकज, पृष्ठ संख्या –83

[12]वही –84

[13]वही –90

[14]मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, महुआ माजी, पृ. सं.– 158

[15]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र,पृ. सं–11

[16]सोन पहाड़ी, पीटर पॉल एक्का,पृ. सं–138

[17]पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का,पृ. सं–58

[18]वही, पृ. सं–59

[19]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –63

[20]झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, सं. वंदना टेटे, अंक 2, जून–अगस्त 2013,पृष्ठ संख्या –14

[21]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या –61–62

[22]लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृ. सं–176

[23]वही, पृ. सं–184

[24]वही, पृ. सं–186

[25]पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृ. सं–75

[26]वही, पृ. सं–135

[27]झारखण्ड की महिलाएं, सं. डॉ.रेणु दिवान, लेख रोज केरकेट्टा,पृ. सं–47

[28]पेनाल्टी कॉर्नर, अश्विनी कुमार पंकज, पृष्ठ संख्या –98

[29]वही, पृ. सं–99

[30]आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, लेख वंदना टेटे , पृष्ठ संख्या –33

उपसंहार

इस शोध कार्य में झारखण्ड के आदिवासी साहित्यकारों के हिंदी कथा साहित्य में चित्रित आदिवासी जीवन और समाज को केंद्र में रखकर अध्ययन किया गया है। आदिवासी समाज का जो साहित्य रहा है वह अलिखित ही मौखिक परंपरा के तहत आता रहा है। मौखिक होने के कारण उसमें समय के अनुसार जोड़–घटाव होते रहे हैं। उनकी यह परंपरा बहुत समृद्ध मानी जाती है। मौखिक परंपरा की महत्ता को व्याख्यायित करते हुए न्गूगी व थ्योंगो कहते हैं जिसे वंदना टेटे ने अपनी किताब **आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन** में लिखा है – **"मौखिक परंपरा बहुत समृद्ध और बहुआयामी है ....यह कला कल समाप्त नहीं हो गई, यह एक जीवंत परंपरा है ....मौखिक परंपरा से अगर परिचय हो तो नई संरचनाओं और तकनीकों की जानकारी मिलती है, इससे ऐसी प्रवृत्ति का भी निर्माण होता है जो नए–नए रूपों के साथ प्रयोग करने को प्रेरित करती है।"** (*आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, पृष्ठ संख्या–17*) मौखिक परंपरा के जरिए ही पूरा आदिवासी समाज अपने–अपने समुदायों की अस्मिता और विभिन्न संस्कृतियों को जिंदा रखा है।

कथा–कहानियों का आदिवासी समाज में विशेष स्थान रहा है। अपनी संस्कृति के बारे में जानने या किसी को समझाने के लिए कहानियों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण रहा है। यह संस्कृति सिर्फ घोटुल, धुमकुड़िया या अन्य युवा गृह तक ही सीमित नहीं थी अपितु रोपनी, कटनी, शादी–ब्याह के विभिन्न रस्मों तथा अन्य छोटे–बड़े कार्यक्रमों में उनकी संस्कृति दिखती थी। संस्कृति की रक्षा हेतु यही अवसर होता था जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती थी। अब इन छोटे–छोटे अवसरों पर भी अत्याधुनिक तकनीकियों का प्रभाव दिखने लगा है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के गहराते संकट के ऐसे समय में, लिखित साहित्य को अपनाना और उसे आगे बढ़ाना आदिवासी साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण कदम है। बदलते परिवेश में आदिवासियों की संस्कृति को बचा पाना बहुत मुश्किल है। दुनिया जिस तेजी से बदल रही है उसी तेजी के साथ आधुनिकीकरण का प्रभाव आदिवासियों के बीच में भी दिखने लगा है। ऐसी स्थिति में आदिवासी साहित्यकारों द्वारा लेखन की यह प्रक्रिया अच्छी पहल है।

झारखण्ड के आदिवासियों का संक्षिप्त परिचय देते हुए हमने पाया है कि विभिन्न विविधताओं के बावजूद झारखण्ड के आदिवासियों की संस्कृति तथा जीवन–शैली काफी मिलती जुलती है। प्रजातीय दृष्टि से झारखण्ड के सभी आदिवासियों को प्रोटो आस्ट्रेलायड वर्ग में रखा गया है। प्रोटो आस्ट्रेलायड समूह के व्यक्तियों के त्वचा का रंग गहरे काले तथा भूरे होते हैं। उनके बाल काले तथा घुंघराले होते हैं। माथा चौड़ा तथा नाक चपटी होती है। इस प्रकार थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ सभी जनजातियों की विशेषताएँ काफी मिलती जुलती है।

इतनी समानता होने के बावजूद आदिवासी समाज कई मामलों में आपस में ही बंटे हुए हैं। जैसे विवाह को लेकर देखा जाए तो समाज में सगोत्रीय विवाह की अनुमति नहीं है। विवाह अपने समुदाय के अन्दर और गोत्र के बाहर ही मान्यता है। आदिवासी समाज में ईसाईयत का बहुत ज्यादा प्रभाव है। ईसाई धर्म भी कई खेमों में बंटे हुए हैं। धर्म को लेकर भी शादी में अड़चनें आती है। यदि व्यवस्थित विवाह हो तो रोमन कैथलिक परिवार का लड़का रोमन कैथलिक परिवार की लड़की को ही प्राथमिकता देता है। ये सभी असमानताएं आदिवासी समाज में कूट–कूट कर भरी है। जो लड़के–लडकियाँ बहुत पढ़ लिख गए हैं वे इन तमाम बंधनों को तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। जिसके कारण अलग–अलग समुदाय तथा अलग धर्म होने पर भी शादियाँ हो रही है। समाज के रीति–रिवाज और संस्कृति को बनाए रखने के लिए समुदाय के कुछ नियम–कानून होते हैं। इन नियम कानूनों के तहत उन्हें हर्जाना के रूप में कुछ रूपये भरने पड़ते हैं।

स्त्री पुरुष सम्बन्ध के सन्दर्भ में लोककथा और समसामयिक परिवेश के हवाले से देखा जाए तो तब और आज का आदिवासी समाज में जमीन आसमान का फर्क है। विवाह से पूर्व सेक्स की अवधारणा के रूप में वीर भारत तलवार लिखते हैं – "**विवाह के बाद वे सेक्स संबंधों में एकनिष्ठता (एक्सक्लुसिवनेस) का पालन करते हैं, पर विवाह पूर्व यौन संबंधों पर रोक नहीं है। सेक्स को वहां हौवा नहीं बनाया गया है। नैतिकता मर्यादा और पवित्रता इत्यादि के नाम पर मनुष्य की यौन भावनाओं को तरह–तरह के बंधनों में बांधकर, उसका दमन कर, उन्हें मानसिक रोगी नहीं बनाया गया है।**"(*झारखण्ड के आदिवासियों के बीच में, पृष्ठ सख्या–113*) लोककथा और

आदिवासी संस्कृति को देखा जाए तो यह बिल्कुल सही है। तब धुमकुड़िया, घोटुल, अखड़ा जैसी संस्थाएं थी। जहाँ पर युवक–युवतियों के बीच में कोई बंधन नहीं था। विवाह के बाद वे सेक्स संबंधों में एकनिष्ठता का पालन करते थे जाहिर सी बात है क्योंकि विवाहितों का उन संस्थाओं में प्रवेश वर्जित था। आज के सन्दर्भ में देखा जाए तो उपर्युक्त कथन थोड़ा अटपटा सा लगता है, क्योंकि आज न घोटुल बचा है और न ही धुमकुड़िया। सेक्स के सन्दर्भ में जहाँ तक अनुभव है अपने समाज और परिवेश से, तो यह उतना ही बंधा हुआ और गोपनीय है जितना गैर आदिवासी समाज समझते हैं। चूँकि यह स्त्री और पुरुष की जरुरतें हैं। यह सच है कि जिस तरह से विवाह पूर्व सेक्स या विजातीय विवाह को गैर आदिवासी समाज में अंजाम दिया जाता है, वह आदिवासी समाज में नहीं है। इस प्रकार से देखा जाए तो इस मामले में आदिवासी समाज बंधा हुआ नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह पूर्व सेक्स और विवाह पूर्व माँ बनने से परिवार वालों को ठेस जरुर पहुँचती है। परिवार की नैतिकता मर्यादा और पवित्रता पर आंच आती है। उनके इज्जत और आत्मसम्मान पर करारा प्रहार पड़ता है। लेकिन वे आग बबूला नहीं होते, उन्हें सलीके से निबटाया जाता है।

आदिवासी साहित्यकारों की एक बड़ी विशेषता इनकी भाषा का सरल और प्रवाहमयी होना है। बिना लाग लपेट के इन साहित्यकारों ने सामाजिक सांस्कृतिक विशिष्टताओं को अपनी रचनाओं में जगह दी है। इनकी रचनाओं में प्रकृति के साथ–साथ जिस इलाके से लेखक या लेखिका का सम्बन्ध है,उसी इलाके की आदिवासी समाज की छवि झलकती है। पर्व–त्योहार, रीति–रिवाज एवं कई छोटी–बड़ी मान्यताएँ आदिवासियों के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। सरहुल, करमा और सोहराई आदिवासियों के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं क्योंकि ये इनके मुख्य त्योहार हैं। इनकी रचनाओं में इन सभी त्योहारों की झलक मिलती है। पीटर पॉल एक्का का उपन्यास **जंगल के गीत** में आदिवासियों का मुख्य जनांदोलन तथा कृषि कार्यों के विशेष रीति–रिवाजों का बारहों महीने आने वाले विभिन्न उत्सवों का जिक्र है। वर्तमान आदिवासी समाज में कुछ ही ऐसे त्योहार, रीति–रिवाज या संस्कृति बचे हैं जिसको वे बनाए रखे हैं। **"तब खूब घने जंगल हुआ करते थे। सखुए के लम्बे, हँसते दरख्त एक दूसरे से सटे अपने भाग्य को इठलाते थे। जंगली जानवरों की अपनी अनदेखी दुनिया थी। उन घने जंगलों के बीच वर्षों की**

मेहनत से बनाये दो–चार खेत होते थे। रहने की छोटी–छोटी झोपड़ियाँ, लिपे–पुते घर। नदी किनारे की बावली, पास की चट्टानों में धान सुखाया जाता, चावल बनाये जाते। हर शाम सखुए के लम्बे, पुराने, बुजुर्ग दरख्त तले मांदर बजाया जाता, ढोल डिमडिमाते, पर्व–त्योहारों के दिन लोग मिलते, दो–एक दोने की हंड़िया बंटती, लोग गाते थे, झूमते थे, परी जैसे जंगल की बेटियां एक–दूसरे की कमर में हाथ डाले बेसुध नाचती थी। सरहुल, करमा में गाँव के करीब सखुए के लम्बे, भूरे दरख्त तले देवताओं को समर्पित चट्टानों के इर्द–गिर्द सिंगबोंगा की आरती उतारी जाती।" (*राजकुमारों के देश में पृष्ठ सख्या–122*)लेखक की इन चंद पंक्तियों के माध्यम से आदिवासी समाज व संस्कृति की पूरी झलक मिलती है। इस उक्ति से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवेश आज बिल्कुल बदल चुका है। आज न वो धुमकुड़िया है न घोटुल, जन्म से लेकर मृत्यु तक, रोपनी से लेकर कटनी तक आदि विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत भी नहीं है। आने वाली पीढ़ियों को इन्हीं लिखित रचनाओं के माध्यम से अपने समाज की विभिन्न संस्कृतियों के बारे में जानकारी मिलेगी।

आदिवासी साहित्यकारों की अधिकांश रचनाएँ आदिवासियों की समस्याओं पर केन्द्रित हैं। रचनाओं में विस्थापन पलायन के साथ–साथ कई अन्य समस्याओं को उजागर करने की कोशिश भी है। जैसे बेरोजगार, नशापान, अशिक्षा, स्त्री शोषण, अंधविश्वास (डायन ढोंगी बाबाओं का प्रकोप) आदि कई समस्याओं को बारीकी से पाठकों के सामने रखा गया है। रचनाकार सिर्फ समस्याओं तक ही सीमित नहीं हैं वे समस्याओं के समाधान के लिए किये गए संघर्षों को भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

आदिवासियों से सम्बंधित लेखन में विषय वस्तु को लेकर आदिवासी रचनाकार और गैर आदिवासी रचनाकारों में कोई अंतर नहीं दिखाई देता है। लेखन की प्रवृत्ति दोनों की एक जैसी ही है। लेखन के रूप में आदिवासियों से सम्बंधित रचनाएँ गैर आदिवासियों के द्वारा पहले रची गई हैं। इसीलिए लिखने का जो ढांचा है वह गैर आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा ही बनाया गया है। उनकी रचनाओं में आदिवासियों के दयनीय जीवन गाथा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

विषय वस्तु को लेकर भले ही आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों की लेखन प्रक्रिया एक हो किन्तु कुछ एक आदिवासियों की रचनाओं में जीवंतता नजर आती है। उनकी रचनाओं में पूरा आदिवासी समाज या आदिवासियों की

जीवन शैली कथावस्तु के इर्द गिर्द घूमने लगती है। रचनाओं में जंगल झाड़, पहाड़–पर्वत, कंद–मूल, फल–फूल, पशु–पक्षियों के साथ–साथ आदिवासियों की दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त होने वाली छोटी–छोटी गतिविधियाँ, पर्व–त्योहार सभी साथ–साथ चलते हैं। साहित्य लेखन के क्रम में भाषा शैली और संवाद को लेकर आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों की रचनाओं में बहुत अंतर है। डॉ. रोज केरकेट्टा लिखती हैं –"**आदिवासी जीवन पर गैर आदिवासी भी लिख रहे हैं। गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी साहित्य में शिल्प है परन्तु आदिवासी आत्मा नहीं है। उसके सर्जक अपनी दृष्टि से अच्छाई–बुराई का कलात्मक विवरण रखता है।**" (*झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, सं. वंदना टेटे, अंक 2, जून–अगस्त 2013, पृष्ठ संख्या –14*)

झारखण्ड की धरती, खान, खनिज और वन सम्पदा से भरपूर है। यह भी सत्य है कि खनिज सम्पदा सबसे ज्यादा उन इलाकों में पाई जाती है जहाँ आदिवासी रहते हैं। जल, जंगल और जमीन प्रकृति की विरासत वरदान स्वरूप उन्हें मिला है किन्तु आदिवासियों के लिए यही वरदान उनके विनाश का कारण बन गया है। जल, जंगल और जमीन के बिना आदिवासियों का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह सब शोषक वर्गों को भली–भाँति पता है इसलिए बाहर से आने वाले शोषकों की नजर सबसे पहले आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर ही होती है और उसे हड़पने के लिए हर प्रकार की चाल चली जाती रही है।

प्राकृतिक संसाधनों से भरा इलाका होने के कारण इन क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आना तथा बहिरागतों का उन इलाकों में जमना आम बात है। वर्तमान में इसी उद्देश्य से मौजूदा सरकार द्वारा कभी सी.एन.टी. एक्ट में संशोधन करने की कोशिश की जा रही है तो कभी 'मोमेंटम झारखण्ड वैश्विक निवेशक सम्मलेन' के माध्यम से तमाम औद्योगिक घरानों को न्योता दिया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में जल, जंगल और जमीन के माध्यम से अपनी पहचान बनाने वाले आदिवासियों का क्या अंजाम हो सकता है यह अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है।

प्राकृतिक संसाधनों पर अपने अधिकारों को लेकर आदिवासी समुदाय देश में विगत 300 वर्षों से संघर्ष कर रहा है अपने अस्तित्व और संस्कृति को

बचाने के लिए आदिवासियों का संघर्ष अंग्रेजों के शासन के समय से ही शुरू हुआ है। आदिवासियत की धरोहर को बचाने की लड़ाई आज तक जारी है। अंग्रेजों के खिलाफ संघर्षों के बारे में ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – **"इस संघर्ष की शुरुआत करने वाले आदिवासी योद्धा बाबा तिलका मांझी ने अंग्रेजों से कहा था जब जंगल और जमीन भगवान ने हमें वरदान में दिया है तो हम सरकार को राजस्व क्यों दें? लेकिन अंग्रेज शासकों ने उनकी एक नहीं सुनी। फलस्वरूप आदिवासी और अंग्रेज शासकों के बीच संघर्ष हुआ। 13 जनवरी 1784 को बाबा तिलका मांझी ने भागलपुर के कलक्टर ऑगस्ट क्लीवलैंड की तीर मारकर हत्या कर दी, वहीं अंग्रेजी सैनिकों ने भी आदिवासियों की हत्या की। अंततः अंग्रेजी सैनिकों ने बाबा तिलका मांझी को भी पकड़कर चार घोड़ों के बीच बांध दिया और फिल्मी शैली में भागलपुर ले जाकर हजारों की तादाद में एकत्रित भीड़ के सामने आम जनता में भय पैदा करने के लिए बरगद के पेड़ से फांसी पर लटका दिया। लेकिन आदिवासी जनता इससे डरी नहीं और लगातार संघर्ष चलता रहा, जिसमें संताल हूल, कोल विद्रोह, बिरसा उलगुलान प्रमुख हैं। फलस्वरूप अंग्रेज भी आदिवासी क्षेत्रों पर कब्जा नहीं कर सके और उन्हें आदिवासियों की जमीन, पारंपरिक शासन व्यवस्था एवं संस्कृति की रक्षा हेतु कानून बनाना पड़ा।"** (*क्रॉसफायर, पृष्ठ संख्या– 6–7*)

इन्हीं महान योद्धाओं के संघर्षों का फल है कि सी.एन.टी. एक्ट (1908)तथा एस.पी.टी.एक्ट (1949)कानून बनाया गया, जिसे आदिवासियों की जमीन का सुरक्षा कवच कहा जाता है। किन्तु मौजूदा सरकार ने इन कानूनों पर संशोधन करने की कोशिश की है। हालाँकि कानून बनने के बावजूद भी इस कानून की बहुत धज्जियाँ उड़ाई गई है, तो हम समझ सकते हैं अगर इस कानून में संशोधन किया जाए तो आदिवासियों का क्या हश्र हो सकता है। भगवान बिरसा ने यह सन्देश दिया था उलगुलान का अंत नहीं। वे यह जानते थे कि आदिवासियों से उनका संसाधन लूटा जाएगा, इसलिए उलगुलान ही उसका जवाब है।

अपने अस्तित्व की रक्षा वहाँ के मूल निवासी अपनी जमीन, अपनी पहचान के लिए जान देने को तैयार हैं। उनका नारा है –

"जान देंगे जमीन नहीं देंगे ।

जल, जंगल, जमीन हमारा है।

किसानों की जमीन मत लूटो।

आदिवासी मूलवासी का विस्थापन बंद करो।

बहुराष्ट्रीय कम्पनी वापस जाओ।

जिंदल, मित्तल का कारखाना नहीं बनेगा।

हमारे गाँव में हमारा राज।

बिरसा मुंडा, सिदो कान्हू अमर रहे।

सी.एन.टी. एक्ट का छेड़छाड़ बंद करो।

सौ–सौ गोली खायेंगे फिर भी जमीन नहीं देंगे।" (*उलगुलान का सौदा, पृष्ठ संख्या – 26–27*)

जान देंगे जमीन नहीं देंगे इस नारे से स्पष्ट है कि उनको अपनी माटी से कितना प्यार है। वे जान देकर भी उसकी रक्षा करने को तैयार हैं। संजय बसु मल्लिक ने **झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष** के प्राक्कथन में लिखा है – "**जान देंगे, जमीन नहीं देंगे जैसा नारा लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के अन्दर से उपजा है। जमीन उसके लिए संस्कृति है पूँजी नहीं। जमीन का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थ है। यह जीवन का अस्तित्व बरकरार रखता है न कि इससे सिर्फ आजीविका चलती है। इस तरह से जमीन को माँ के रूप में माना जाता है जो अपने बच्चों को दूध पिलाती है। लोग चकित हैं कि बच्चा कैसे दूध के बदले माँ का खून पी सकता है। इसलिए झारखण्ड के बच्चों ने स्पष्ट संदेश दे दिया है कि वे अपनी मातृभूमि को सुरक्षित रखेंगे चाहे इसके लिए उन्हें क्यों न अपनी जान की कीमत चुकानी पड़े।"**(*झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष मुखपृष्ठ –प्राक्कथन*) मुझे लगता है और हमारे आदिवासी युवा क्रांतिकारियों ने भी यह मान लिया है (जल, जंगल और जमीन को बचाने हेतु, विभिन्न सरकारी योजनाओं के विरोध रैलियों के आधार पर) कि ये आदिवासियों के स्वभाव के अनुरूप नारा है। जरुरत है आज की तारीख में **न जान देंगे न जमीन देंगे** जैसे नारों की।

आदिवासी इतिहास की एक विशेषता यह है कि इनके विद्रोहों में महिलाओं ने भी सक्रिय भूमिका निभाई है। जैसे रोहतासगढ़ के किले की लड़ाई

में उराँव सिनगी दई और कोइली दई लड़ी। संथाल हूल में सिधो कान्हू की बहनें फूलो व झानो लड़ी। बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' में बनकन मुंडा की पत्नी, मझिया मुंडा की पत्नी, थीगी, नागी, साली, चंपी आदि कई महिलाएँ सक्रिय रहीं। ताना भगत के आंदोलन में देवमनी लड़ी थीं। उसी प्रकार रचनाओं की स्त्रियाँ भी अपने हकों और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए विद्रोह करती नजर आती हैं। **पगहा जोरी –जोरी रे घाटो** की दया पढ़ाई को लेकर विद्रोह करती है, वहीं **केराबांझी** की शिक्षित बहू कैसे अपने ससुर के ताने का डटकर जवाब देती है – "**आप मुझे केराबांझी कह सकते हैं। क्योंकि हमने, हाँ हम पति पत्नी ने मिलकर इसे स्वीकारा है**।" (*पगहा जोरी–जोरी रे घाटो, पृष्ठ संख्या– 32–33*) स्त्री शोषण के विरुद्ध मंगल सिंह मुंडा की **नारी वाहिनी** का विद्रोह रूप देखिए – "**जब कोई तुम्हारा मुँह काला करने को उद्यत हो तो फौरन सहमति का रूप अपनाओ। फिर तत्क्षण सिंगबोंगा का नाम लेकर हाथ की उँगलियों से अपना खोंपा टटोलो। वहाँ तुम्हें एक नाई की छुरी छिपी मिलेगी। बस, उससे उसके गुप्तांग काटकर अलग कर डालो।" (*छैला सन्दु, पृष्ठ संख्या– 60*) सोन पहाड़ी** की फूलो के साथ किस तरह अत्याचार होता है। उन्हें बेहोशी की दवा सुंघाकर उसकी इज्जत लूटी जाती है। जब उसे होश आता है तो वह चुप नहीं रहती है। तीर धनुष लेकर उसके सीने को आर–पार कर देती है **– "करमा की वह सुबह बेहद खूबसूरत थी। हरिगुलाम अलसाये तन को सीधा करता, दरवाजा खोलकर बाहर निकला। निकलते ही एक तीर सनसनाती सीने को छेद गई थी। वह चीखता हुआ वहीं धरती पर लोट गया था।" (*सोन पहाड़ी, पृष्ठ संख्या– 100*)**

इस प्रकार समाज में व्याप्त समस्याओं के साथ–साथ कई सरकारी परियोजनाओं के तहत समस्याएँ उपजती है जैसे **नेतरहाट पायलट प्रोजेक्ट फिल्ड फायरिंग रेंज, ओरंगा जलाशय परियोजना, उत्तरी कोयल जलाशय परियोजना, काठीकुंड थर्मल पॉवर प्रोजेक्ट, इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट(खूंटी) तथा इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट(पोटका)**। इन सभी परियोजनाओं के लिए हजारों लाखों आदिवासी विस्थापित हुए हैं और होने वाले हैं। इन्हीं समस्याओं से बचाने के लिए जमीनी स्तर पर संघर्ष जारी है, जिससे अधिकतर परियोजनाएँ रुकी हुई हैं तथा जो चालू है उसके लिए संघर्ष जारी है। आदिवासियों की जमीन से विकास चाहने वाले कहेंगे कि आदिवासी लोग विकास विरोधी हैं। कौन नहीं चाहता विकास? बदलते समय के साथ सभी को हर प्रकार की सुविधाएँ चाहिए लेकिन ऐसे

सुविधाओं और विकास का खामियाजा भुगतता कौन है?...सिर्फ और सिर्फ उस जमीन के मालिक। जादूगोड़ा यूरेनियम खनन को ही ले लीजिए। वहाँ के भोले–भाले आदिवासियों को नहीं पता कि यूरेनियम खनन से निकलने वाली रेडियोएक्टिव विकिरण से तरह–तरह की भयानक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। विकिरण के चलते कैंसर से मरना या विकलांग बच्चे का जनना या फिर गर्भ में ही बच्चे का मरना, इन सबका कारण ये यूरेनियम खनन को नहीं बल्कि अपने समाज में ही कमियाँ निकालकर, अपने ही समाज की किसी महिला को डायन बताकर उसकी हत्या कर दी जाती है। इन समस्याओं से बचने के लिए जो संघर्ष किया जा रहा उसे आप क्या कहेंगे?... विकास या विकास विरोधी? आदिवासियों की समस्याओं का समाधान निकालते हुए ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं – "**आदिवासियों की समस्याओं का हल यही है कि उनके संसाधनों को न लूटा जाए, उनके बीच मानव संसाधन का बड़े पैमाने पर विकास हो, उनके बजट का हिस्सा ईमानदारी से उनके लिए खर्च किया जाए, संवैधानिक प्रावधान व कानून लागू किये जाएँ एवं सबसे जरुरी यह है कि उन्हें बराबरी का दर्जा देकर आदिवासी दर्शन पर आधारित विकास प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाया जाए।"(*क्रॉसफायर, पृष्ठ संख्या– 15*)**

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी साहित्य लेखन में आदिवासी साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने छोटानागपुर के आदिवासी समाज के जीवन दर्शन को, समाज की समस्याओं को अपने लेखन से अभिव्यक्ति दी है। जल, जंगल और जमीन के संघर्ष तथा अतीत की यादों के साथ–साथ इन साहित्यकारों ने समाज के ज्वलंत समस्याओं की ओर भी पाठक का ध्यान उन्मुख किया है। आदिवासी मुद्दों को साथ लेकर चलने वाले आदिवासी साहित्यकारों की रचनाएँ जिनमें आदिवासियों की समस्याओं पर ही सिर्फ प्रकाश नहीं डाला गया, बल्कि इनके पीछे के कारणों को भी चिन्हित किया गया है। इनकी रचनाओं की विशेषता भाषा का सरल और प्रवाहमयी होना है। इस कारण पाठक एक ही बैठक में कहानियों को पढ़ सकता है। आँचलिकता इनकी कहानियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जिसके कारण लेखक अपनी रचनाओं में आदिवासियों की परम्पराएं, सामाजिक प्रथाएँ, धार्मिक बोध, स्त्रियों का स्थान, पारिवारिक स्थान, युवक–युवतियों को समाज में ढालने के तौर तरीके को उकेरते हुए

विभिन्न मुद्दों को गंभीरतापूर्वक उठाने में सफल रहे हैं। कुछ मुद्दे हैं जिनपर आदिवासी साहित्यकारों या गैर आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में बहुत कम जगह दी है। जैसे आदिवासी संस्कृति का सवाल, आदिवासियों की भाषाओं का सवाल, धर्म का सवाल तथा आदिवासी स्त्रियों के हक के प्रति सवाल। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के गहराते संकट को देखते हुए, इन मुद्दों को भी गंभीरता से उठाने की जरुरत है।

परिशिष्ट :–

सन्दर्भ ग्रंथ :–

आधार ग्रंथ :–

- एक्का, पीटर पॉल, *मौनघाटी,* रांची, सत्य भारती प्रकाशन, 1982
- एक्का, पीटर पॉल, *पलास के फूल, सोन पहाड़ी,* रांची, सत्य भारती प्रकाशन 2012
- एक्का, पीटर पॉल, परती जमीन, राँची, सत्य भारती प्रकाशन 2014
- एक्का, पीटर पॉल, *जंगल के गीत,* रांची सत्य भारती प्रकाशन, 1999
- एक्का, पीटर पॉल, *क्षितिज की तलाश में,* रांची, सत्य भारती प्रकाशन 2011
- एक्का, पीटर पॉल, *राजकुमारों के देश में,* रांची, सत्य भारती प्रकाशन,
- केरकेट्टा, रोज, *पगहा जोरी–जोरी रे घाटो,* रांची, देशज प्रकाशन 2009
- 'तरुण' वाल्टर भेंगरा *लौटते हुए,* रांची, सत्य भारती प्रकाशन, 2005
- 'तरुण' वाल्टर भेंगरा *अपना अपना युद्ध, जंगल की ललकार,* राँची, सत्य भारती प्रकाशन, 2014
- बेदिया, रूपलाल, *शून्य में अटके परिन्दे,* नई दिल्ली, अयन प्रकाशन 2012
- मुंडा, मंगल सिंह *महुआ का फूल,* , नई दिल्ली, मीनाक्षी प्रकाशन 1998
- मुंडा, मंगल सिंह, *छैला सन्दु,* नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2004
- मुंडा, रामदयाल, *'ए' अ नव कानिको (सात नई कहानियां)* उदयपुर, सरस्वती प्रेस, राजस्थान, 1980

सहायक ग्रंथ :–

- अनुराग, फैसल, हरिवंश (संपादक), *झारखण्ड अस्मिता के आयाम,* नई दिल्ली, प्रकाशन संस्थान,2009

- अवस्थी, राजेंद्र, *जंगल के फूल,* दिल्ली, राजपाल एंड सन्स प्रकाशन, 1996
- उराँव, प्रकाश चन्द्र, *बिहार के असुर,* राँची बिहार सरकार, कल्याण विभाग, बिहार जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, 1994
- कुमार, विनोद, *आदिवासी संघर्षगाथा,* नई दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, 2005
- कुमार, विनोद, *समर शेष है,* नई दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, 2005
- कुमार, दीपक, चौबे, देवेन्द्र(सं•) *हाशिये का वृत्तांत,* पंचकूला (हरियाणा)आधार प्रकाशन, 2011
- कुमार, डॉ.दिलीप, सहाय डॉ. भोलानाथ, *संथाल जनजाति में महिलाओं की स्थिति,* इलाहबाद, के.के. प्रकाशन, 2011
- केरकेट्टा, रोज, *स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति,* रांची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, 2014
- केरकेट्टा, रोज, *बिरुवार गमछा तथा अन्य कनानियाँ,* नई दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, 2017
- (कार्यशाला पर आधारित विवेचना) *झारखण्ड का आदिवासी समाज एवं संस्कृति,* राँची, विकास मैत्री प्रकाशन, 2009
- गुप्ता, रमणिका, *निज घरे परदेसी,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2009
- गुप्ता, रमणिका(सं.), *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन,2008
- गुप्ता, रमणिका(सं.), आदिवासी कौन, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन 2008
- गुप्ता, रमणिका(सं.), शौर्य एवं विद्रोह (आदिवासी), साहित्य उपक्रम, 2004
- गुप्ता, रमणिका(सं.), आदिवासी साहित्य यात्रा,नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008
- टेटे, वंदना (सं.), *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ,* नई दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, 2017
- टेटे, वंदना (सं.) *आदिवासी दर्शन और साहित्य,* दिल्ली, विकल्प प्रकाशन, 2016
- टेटे, वंदना, *आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन,* राँची, प्यारा केरकेट्टा फाउन्डेशन, 2013

- टेटे, वंदना (सं.), *एलिस एक्का की कहानियाँ,* नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015
- टेटे, वंदना(संपादक), *पुरखा लड़ाके झारखंडी युद्धों और उसके नायकों की कहानियाँ,* राँची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, 2005
- टेटे, वंदना(संपादक), *पुरखा झारखंडी साहित्यकार और नए साक्षात्कार,* राँची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, 2012
- टोप्पो, जेम्स (अनुवादक), कुजूर जोसेफ मरियानुस, विकास झा, *दिल्ली में आदिवासी महिला घरेलू कामगार,* नई दिल्ली, भारतीय सामाजिक संस्थान,2009
- डुंगडुंग, ग्लैडसन, *उलगुलान का सौदा,* राँची, आइ.डी. पब्लिशिंग, 2009
- डुंगडुंग, ग्लैडसन, कृष्ण संजय, *क्रॉसफायर,* कोलकाता, आदिवानी, 2014
- डुंगडुंग, ग्लैडसन, मिंज सुनील, *झारखण्ड में अस्मिता संघर्ष,* राँची, आई.डी. पब्लिशिंग, 2013
- डुंगडुंग, ग्लैडसन, मिंज सुनील, *विकास के कब्रगाह,* राँची, आई.डी. पब्लिशिंग, 2013
- डुंगडुंग, ग्लैडसन, मिंज सुनील, *नगड़ी का नगाडा,* राँची, आई.डी. पब्लिशिंग, 2012
- डुंगडुंग, जोवाकिम, *छोटानागपुर के डेलकी खड़िया,* राँची, झारखण्ड झरोखा, 2013
- डुंगडुंग, जोवाकिम, *खड़िया जीवन और परम्पराएँ,* राँची, कैथोलिक प्रेस, 1999 ई•।
- डुंगडुंग, डॉ.मथियस, *हिंदी और खड़िया,* राँची, सत्य भारती प्रकाशन, 2013
- तलवार, प्रो• वीर भारत, *झारखण्ड के आदिवासियों के बीच,* दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, नई 2008 ई•।
- तलवार, वीर भारत(सं.), *नक्सलबाड़ी के दौर में,* नई दिल्ली, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा.) लिमिटेड,2007
- तिर्की, डॉ. केरुबिम, *छोटानागपुर के आदिवासियों की वैवाहिक परम्पराएँ एवं वर्तमान समस्याएँ,* डालटनगंज(झारखण्ड) ज्योत्स्ना प्रिंटिंग प्रेस, प्रथम संस्करण 2002
- तिर्की, महली लिवीन्स, *आदिवासी और उनकी भाषाएँ (छोटानागपुरी) आदिवासियों के सन्दर्भ में)*नई दिल्ली, बोस्को सोसायटी फॉर प्रिंटिंग एंड ग्राफिक ट्रेनिंग 2011

- तोपनो, पौलुस, *छोटानागपुर के आदिवासी,* राँची, सत्य भारती प्रकाशन, 1984
- दिवान, डॉ. रेणु, *झारखण्ड की महिलाएँ,* पटना, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2004
- देवी, महाश्वेता, *आदिवासी कथा,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2008
- नायडू, पी. आर., *भारत के आदिवासी विकास की समस्याएँ,* नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स, 2008
- पंकज, अश्विनी कुमार, *पेनाल्टी कॉर्नर,* रांची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, 2009
- पंकज, अश्विनी कुमार, *इसी सदी के असुर,* रांची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन 2010
- पाठक, मनमोहन, *गगन घटा घहरानी,* धनबाद (झारखण्ड) कतार प्रकाशन,1991
- महतो, शैलेन्द्र, *झारखण्ड की समरगाथा,* दिल्ली, निधि बुक्स प्रकाशन,2011
- माजी, महुआ, *मरंग गोडा नीलकंठ हुआ,* नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2012
- माँझी, डॉ. धनेश्वर, *संताली लोक कथाओं की दुनिया,* राँची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, 2011
- मुंडा, डॉ• रामदयाल, *आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल,* प्रकाशन नई दिल्ली, संस्थान, 2009
- मीणा, गंगा सहाय(सं.), *आदिवासी साहित्य विमर्श,* नई दिल्ली, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा.) लिमिटेड, 2014
- मीणा, हरिराम, *आदिवासी दुनिया,* नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2013
- मीणा, डॉ. रमेश चन्द, *आदिवासी विमर्श,* जयपुर, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2013
- रणेन्द्र, *ग्लोबल गाँव के देवता,* नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ,2010
- रणेन्द्र, *गायब होता देश,* इंडिया, पेंगुइन बुक्स, 2014
- रणेन्द्र, *रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ,* नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2010
- रणेंद्र, (सं•) *झारखण्ड इन्साइक्लोपीडिया (मांदर की धमक और गुलैंची की खुशबू) खण्ड–4,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2008

- रणेन्द्र, तलवार वीर भारत,किशा कालजयी किशन, रविभूषण, भेंगरा वाल्टर, प्रसाद माया (समीक्षक), *पगहा जोरी–जोरी रे घाटो(समीक्षकों की नजर में),* राँची, संवाद प्रकाशन, 2011
- लुगुन, अनुज (सं.) *आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध,* दिल्ली, अनन्य प्रकाशन,2015
- वर्मा, रूपचन्द्र, *भारतीय जनजातियाँ,* नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, 2003
- वासवी, *ताबेन जोम,* पंचकूला (हरियाणा), आधार प्रकाशन, 2003
- वीरोत्तम, डॉ. बी. *झारखण्डरू इतिहास एवं संस्कृति,* पटना, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, चतुर्थ संस्करण, 2006
- शर्मा, डॉ• बिमला चरण, बिक्रम कीर्ति, *झारखण्ड की जनजातियाँ,* राँची, क्राउन पब्लिकेशन्स, 2006
- संजीव, *पाँव तले की दूब,* बीकानेर, वाग्देवी प्रकाशन 2009
- संजीव, *सावधान ! नीचे आग है,* नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2000
- स्वामी, स्टेन, *आदिवासियों का अस्तित्व समाप्ति की ओर,* राँची, झारखण्ड एक्सप्रेस, 2015
- स्वामी, स्टेन, *आदिवासी अस्तित्व पर सुनियोजित हमला,* राँची, झारखण्ड एक्सप्रेस, 2015
- सिंह, राकेश कुमार, *जो इतिहास में नहीं है,* नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005
- सिंह, राकेश कुमार, *पठार पर कोहरा,* नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005
- सिंह, कुमार सुरेश, *बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2008
- सिन्हा, योगेन्द्र नाथ, *वनलक्ष्मी,* इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 2000
- सिंह, राजेश्वरी प्रसाद, *असुर,* राँची, बिहार सरकार, कल्याण विभाग, बिहार जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, 1993

- हरिवंश, (सं•) *झारखण्ड दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2002
- हरिवंश(प्रधान संपादक), *झारखण्ड दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने,* नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन,2002
- होरो, अमरदीप, *मुंडा आदिवासियों का समाज, संस्कृति और इतिहास,* राँची, काथलिक प्रेस

अंग्रेजी किताबें

- Hoffmann, Rev. john s .j. , *Encyclopaedia Mundarica,* Patna, Gyan Book Publications,1975(Reprinted)
- Kumar, Suresh singh, *People Of India Vol 3, Scheduled Tribe*, Oxford University Press, 1997.
- Prasad, Narmadeshwar, *Land And People Of Tribal Bihar*, Ranchi, Bihar Tribal Research Institute, 1961.
- Roy, Sarat Chandra, *The Mundas And Their Country*, Asia Publishing house ,1912
- Roy, Sarat Chandra, *The Oraons Of Chhota Nagpur*,Ranchi, Crown Publication,2004(Reprinted)
- Roy, Sarat Chandra, *The Kharias Vol-1*, Ranchi, Man In India, 1937
- Roy, Sarat Chandra, *The Kharias Vol -2*, Ranchi, Man In India, 1937

- Vidyarthi, L.P., *The Bio-Cultural Profiles Of Tribal Bihar*,Kolkata, Punthi Pustak , 1986

पत्र–पत्रिकाओं के विशेष अंक

- कालिया, रवीन्द्र संपादक, *नया ज्ञानोदय,* अंक– 85 मार्च 2010
- कालिया, रवीन्द्र संपादक, *नया ज्ञानोदय,* अंक– 65 जुलाई 2008
-
- सागर, शैलेन्द्र संपादक *कथाक्रम,* अंक– 50 अक्तूबर –दिसम्बर 2011
- कालजयी, किशन**,** संपादक *सबलोग,* अंक 01 जनवरी 2011
- सिंह, अविनाश कुमार संपादक, *इस्पातिका,* अंक 01 जनवरी–जून 2012
- अहमद, डॉ एम.फीरोज संपादक, *वांग्मय,* आदिवासी विशेषांक, जुलाई 2013
- टेटे, वंदना, पुरखा कहानी विशेषांक, *झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा,* वर्ष–9, अंक – 3, सितम्बर–नवम्बर, 2015
- केशरी, डॉ. विसेश्वर प्रसाद, रामदयाल मुंडा स्मृति विशेषांक, *डहर,* अगस्त 2013
- टेटे, वंदना, आदिवासी दर्शन और सहित्य विशेषांक, *झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा,* वर्ष–9, अंक– 1, मार्च–मई 2015
- टेटे, वंदना, महासम्मेलन विशेषांक, *झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा,* वर्ष–7, अंक– 2, जून– अगस्त 2013
- टेटे, वंदना, सेमिनार विशेषांक, *झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा,* वर्ष–2, अंक– 4–5, अक्टूबर 2015 –मार्च 2016

- गुप्ता, रमणिका, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक, *युद्धरत आम आदमी,* अंक–80, 2005
- सिंह, प्रो. टी. मोहन, जनजातीय भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक, *संकल्प,* वर्ष–38, अंक–4 एवं वर्ष–39, अंक–1, अक्टूबर 2010–मार्च–2011 (संयुक्तांक)
- रविरंजन, कुमार राम उदय, *लोकचेतना,* वर्ष–1, अंक –(3–4) संयुक्तांक (नवम्बर–2012– अप्रैल–2013)

पत्रिकाएँ

- कालिया, रवीन्द्र संपादक, *नया ज्ञानोदय,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- टेटे, वंदना सम्पादक, त्रैमासिक, *झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा,* रांची, झारखण्ड।
- "पथिक", बी• पी• वर्मा संस्थापक सम्पादक,(प्रभारी श्रवण कुमार मीणा) त्रैमासिक, *अरावली उदघोष* उदयपुर, राजस्थान।
- शाह, के• आर• संपादक, मासिक, *आदिवासी सत्ता,* भिलाई नगर, दुर्ग छत्तीसगढ़।

Online Website

https://pathaar.wordpress.com/2014/06/

https://tirchhispelling.wordpress.com/2013/05/10/